प्रादेशिक बोलियों का प्रयोग मिलता है। हिन्दू मुसलमान पात्रों की भाषा में भी भेद है, जैसे, 'नीलदेवी' में मुसलमान पात्र उर्दू का प्रयोग करते हैं। राधाकृष्णदास कृत 'राणा प्रताप' में भी मुसलमान पात्र उर्दू का प्रयोग करते हैं। तोताराम वर्मा के 'विवाह विडम्बन' में खड़ोबोली और ब्रजभाषा का प्रयोग हुआ है। कृष्ण-सम्बन्धी नाटकों (जैसे 'नन्दोत्सव') में कृष्ण, बलदेव आदि उच्च पात्र खड़ीबोली का और स्त्रियाँ, ग्वाले आदि ब्रजभाषा का प्रयोग करते हैं। राम-सम्बन्धी नाटकों में अवधी का प्रयोग मिलता है। किन्तु सभी लेखकों ने इस नियम का पालन नहीं किया। प्राचीन नाट्यशास्त्र में रङ्गमञ्च (प्रेक्षागृह) के लिए भी नियम बनाए गए और सुरुचि के लिए उनका पालन आवश्यक समझा गया। उस पर चुम्बन, वध, आलिंगन, स्नान, यात्रा, मृत्यु, युद्ध आदि दृश्य दिखाना वर्जित है। आलोच्य काल में इस नियम की अवहेलना होने लगी थी, जैसे, किशोरीलाल गोस्वामी कृत 'मयङ्कमञ्जरी' में चुम्बन, वध आदि का प्रदर्शन होता है, भारतेन्दु कृत 'नीलदेवी' में भी, जो नई प्रथा के अनुसार लिखी गई रचना है, वध का दृश्य दिखाया जाता है। चमत्कारपूर्ण और अद्भुत घटनाओं या घटना-वैचित्र्य की ओर भी लेखकों का ध्यान गया।

संस्कृत नाटक प्रधानतः आदर्शवादी, रस-प्रधान और काव्यात्मक होते हैं। उनमें सदा धर्म और अधर्म, पाप और पुण्य के संघर्ष के बीच सद्प्रवृत्तियों की विजय दिखाकर वास्तविक जीवन के तथ्य का सत्यान्वेषण पाया जाता है। प्राचीन नाटकों का महत्व धार्मिक (व्यापक अर्थ में) अधिक है। उनमें कर्म और आवागमन का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है। उनमें पाप की पराजय और पुण्य की जय प्रदर्शित करने में सदैव एक नैतिक सिद्धान्त निहित रहता है। इस उद्देश्य को सामने रख कर संस्कृत नाटककारों ने सर्वगुण-सम्पन्न, निर्दोष और आदर्श चरित्रों का निर्माण किया। पूर्णत्व लिए हुए होने के कारण उनके पात्रों में अन्तर्द्वन्द्व या मानसिक संघर्ष नहीं पाया जाता। पात्र नीचे से ऊपर नहीं चढ़ते, वरन् पहले से ही जीवन के सर्वोच्च शिखर पर बैठे हुए दिखाए जाते हैं। भारतीय नाट्य-शास्त्रियों का यह सिद्धान्त रहा है कि नाटकों का अन्त दुःखात्मक न होना चाहिए। नायक जब तक पापात्मा न हो तब तक उसकी पराजय हो कैसे सकती है? नायक की पराजय का अर्थ पाप और अधार्मिकता का प्रचार करना होगा। इसीलिए प्राचीन भारतीय नाट्य-साहित्य में दुःखान्त नाटकों का अभाव है।[1] हाँ, करुण रस और विप्रलम्भ के रूप में उनमें दुःख का समावेश पाया जाता है। आलोच्य काल में पाश्चात्य अर्थ में

१. 'पद्मावती नाटक' (१८८६) के अनुवाद में रामकृष्ण वर्मा सूत्रधार के मुख से कहलाते हैं :

प्रादेशिक बोलियों का प्रयोग मिलता है। हिन्दू मुसलमान पात्रों की भाषा में भी भेद है, जैसे, 'नीलदेवी' में मुसलमान पात्र उर्दू का प्रयोग करते हैं। राधाकृष्णदास कृत 'राणा प्रताप' में भी मुसलमान पात्र उर्दू का प्रयोग करते हैं। तोताराम वर्मा के 'विवाह विडम्बन' में खड़ीबोली और ब्रजभाषा का प्रयोग हुआ है। कृष्ण-सम्बन्धी नाटकों (जैसे 'नन्दोत्सव') में कृष्ण, बलदेव आदि उच्च पात्र खड़ीबोली का और स्त्रियाँ, ग्वाले आदि ब्रजभाषा का प्रयोग करते हैं। राम-सम्बन्धी नाटकों में अवधी का प्रयोग मिलता है। किन्तु सभी लेखकों ने इस नियम का पालन नहीं किया। प्राचीन नाट्यशास्त्र में रङ्गमञ्च (प्रेक्षागृह) के लिए भी नियम बनाए गए और सुरुचि के लिए उनका पालन आवश्यक समझा गया। उस पर चुम्बन, वध, आलिंगन, स्नान, यात्रा, मृत्यु, युद्ध आदि दृश्य दिखाना वर्जित है। आलोच्य काल में इस नियम की अवहेलना होने लगी थी, जैसे, किशोरीलाल गोस्वामी कृत 'मयङ्कमञ्जरी' में चुम्बन, वध आदि का प्रदर्शन होता है, भारतेन्दु कृत 'नीलदेवी' में भी, जो नई प्रथा के अनुसार लिखी गई रचना है, वध का दृश्य दिखाया जाता है। चमत्कारपूर्ण और अद्भुत घटनाओं या घटना-वैचित्र्य की ओर भी लेखकों का ध्यान गया।

संस्कृत नाटक प्रधानतः आदर्शवादी, रस-प्रधान और काव्यात्मक होते हैं। उनमें सदा धर्म और अधर्म, पाप और पुण्य के संघर्ष के बीच सद्प्रवृत्तियों की विजय दिखाकर वास्तविक जीवन के तथ्य का सत्यान्वेषण पाया जाता है। प्राचीन नाटकों का महत्व धार्मिक (व्यापक अर्थ में) अधिक है। उनमें कर्म और आवागमन का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है। उनमें पाप की पराजय और पुण्य की जय प्रदर्शित करने में सदैव एक नैतिक सिद्धान्त निहित रहता है। इस उद्देश्य को सामने रख कर संस्कृत नाटककारों ने सर्वगुण-सम्पन्न, निर्दोष और आदर्श चरित्रों का निर्माण किया। पूर्णत्व लिए हुए होने के कारण उनके पात्रों में अन्तर्द्वन्द्व या मानसिक संघर्ष नहीं पाया जाता। पात्र नीचे से ऊपर नहीं चढ़ते, वरन् पहले से ही जीवन के सर्वोच्च शिखर पर बैठे हुए दिखाए जाते हैं। भारतीय नाट्य-शास्त्रियों का यह सिद्धान्त रहा है कि नाटकों का अन्त दुःखात्मक न होना चाहिए। नायक जब तक पापात्मा न हो तब तक उसकी पराजय हो कैसे सकती है? नायक की पराजय का अर्थ पाप और अधार्मिकता का प्रचार करना होगा। इसीलिए प्राचीन भारतीय नाट्य-साहित्य में दुःखान्त नाटकों का अभाव है।[1] हाँ, करुण रस और विप्रलम्भ के रूप में उनमें दुःख का समावेश पाया जाता है। आलोच्य काल में पाश्चात्य अर्थ में

---

१. 'पद्मावती नाटक' (१८८६) के अनुवाद में रामकृष्ण वर्मा सूत्रधार के मुख से कहलाते हैं :

दु:खान्त नाटक भी लिखे गए जैसे, 'रणधीर प्रेम-मोहिनी', 'लावण्यवती', ,जयन्त', आदि। प्राचीन नियमानुसार लिखे गए नाटकों में विषय प्राय: प्रेम सम्बन्धी या पौराणिक या धार्मिक रहता था, पात्र दैवी या आदर्श रहते थे और कर्तव्य पालन प्रधान धर्म समझा जाता था, और अलौकिक घटनाएँ रहती थीं। नवीन शैली के अनुसार नाटकों में हास्य, कौतुक, देश-हित, समाज-हित- धर्म-हित और इतिहास- सम्बन्धी विषय भी रहने लगे। पात्र मानवी होने लगे। ये ही पात्र बीसवीं शताब्दी में अन्तर्द्वन्द्व लेकर अवतरित हुए। 'नीलदेवी' और 'सती प्रताप' (राधाकृष्णदास कृत) जैसे गीति-रूपकों (नाट्य-गीतों) की रचना होने लगी। प्रहसनों का विषय और उद्देश्य भी प्राचीन नियम के विरुद्ध है। प्राचीन नियम के अनुसार देश-सुधार, समाज-सुधार आदि उसमें नहीं रखना चाहिए। आलोच्य-काल के प्रहसन तत्कालीन सुधारवादी आन्दोलनों के अंग हैं। उनकी कथावस्तु सामाजिक और ध्वनि व्यंग्यात्मक है। भारतेन्दु ने अपने 'नाटक' में प्राचीन नाट्य-शास्त्र के आशी: प्रभृति, नाट्यालङ्कार, प्रकरी, विलोभन, संफेट, पंचसन्धि आदि तत्वों का उल्लेख किया है जिनकी तत्कालीन नाट्य-पद्धति में आवश्यकता न रह गई थी। वृत्तियों की ओर भी नाटककारों का ध्यान अधिक न गया। भरत-वाक्य सम्बन्धी नियम भी उपेक्षित होने लगा था।

वास्तव में नवविकसित हिन्दी नाट्य-धर्म के इस संक्षिप्त वर्णन से यही निष्कर्ष निकलता है कि प्राचीन नियमों के प्रति श्रद्धा रखते हुए भी नाटकारों ने स्वच्छन्दता का परिचय दिया। उन्होंने प्राचीन सिद्धांतों का अन्धानुकरण न किया। नवीन नाट्य-धर्म पुरातन को लिए हुए भी नवीन था। उसका अनुमान भारतेन्दु की रचनाओं और उनके 'नाटक' ग्रन्थ से लगाया जा सकता है। लाला श्रीनि,वसादास किशोरीलाल गोस्वामी, केशवराम भट्ट तथा अन्य अनेक नाटककार इस बात के साक्षी हैं। नाटककारों ने (उन्नीसवी शताब्दी की) विशुद्ध नवीन प्रणाली के अनुसार रचनाएँ प्रस्तुत कीं। उनमें प्राचीन नियमों के पालन का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु प्राचीन नाट्य-शास्त्र के सिद्धांतों के अनुसार लिखे गए नाटकों में नवीन प्रणाली और तत्कालीन नाटकीय वातावरण का प्रभाव मिलता है। किसी-न-किसी रूप में नवीन प्रभाव से मुक्त शायद ही कोई रचना मिले। उदाहरणार्थ, भारतेन्दु कृत 'चन्द्रावली'

'....उस दिन जो हम लोगों ने कृष्णाकुमारी नाटक खेला था सो इन महाशयों को बहुत ही पसंद आया''''परन्तु कितने ही लोगों को दु:खान्त नाटक से चित्त में खेद बना रहता है अतएव इन लोगों की भी यह रुचि है कि कोई ऐसा नाटक होता जिसमें वियोग के उपरान्त सम्मेल भी हो जावे जिस्से चित्त में सुख का आनन्द छाया रहे।'

यद्यपि प्राचीन नाट्य-शास्त्र के अनुसार लिखी गई नाटिका है, किन्तु उसमें रासलीला, और पारसी खेलों का प्रभाव मिलता है, यहाँ तक कि परोक्ष रूप से पाश्चात्य प्रणाली के अनुसार संकलनत्रयी (Three Unities) भी मिल जाती हैं। एक ही नाटककार ने प्राचीन और नवीन दोनों प्रकार के नियमों के अनुसार अलग-अलग रचनाएँ कीं। कुछ नाटककारों की रचनाओं में प्राचीन और नवीन का मिश्रण है, जैसे, राधाकृष्णदास कृत 'महारानी पद्मावती'। यह मिश्रण केवल वाह्य नाटकीय विधानों की दृष्टि से ही नहीं, विषय की दृष्टि से भी है। वाह्य विधान यदि प्राचीन है तो विषय नवीन है, जैसे राधाकृष्णदास कृत 'महारानी पद्मावती' और 'महाराणा प्रताप' में विषय ऐतिहासिक है, और यदि विषय प्राचीन नियमानुसार है तो विधान नवीन है, जैसे, राधाकृष्णदास कृत 'सतीप्रताप' जो गीति-रूपक है और जिसमें प्राचीन नियमों का पालन नहीं किया गया। किन्तु सभी प्रभाव एक ही नाटक में नहीं मिलते। अन्त में इस बात की ओर भी संकेत कर देना आवश्यक जान पड़ता है कि प्रधान रूप से प्राचीन नियमानुसार निर्मित नाटकों को छोड़ कर विशुद्ध नवीन या नवीनप्र भावान्तर्गत रचे गए नाटकों में वाह्य दृष्टि से नवीनता होते हुए भी आन्तरिक दृष्टि से रसात्मकता और आदर्शवादिता का किसी न किसी रूप में थोड़ा-बहुत अंश अवश्य मिलता है; उन्नीसवीं शताब्दी के नाट्य-साहित्य की आत्मा अभी बहुत-कुछ प्राचीन थी। सच तो यह है कि आलोच्य काल में यदि प्राचीन बिल्कुल प्राचीन नहीं है तो नवीन भी बिल्कुल नवीन नहीं है।

दूसरे अध्याय में यह बताया जा चुका है कि सामाजिक और धार्मिक आंदोलनों के फलस्वरूप प्राचीन भारतीय साहित्य का अध्ययन शुरू हो गया था। विदेशियों में पहले-पहल सर विलियम जोन्स ने संस्कृत का अध्ययन किया। तत्पश्चात् हॉज्सन, रॉथ, बोहत्लिंक (Bohtlingk), मैक्सम्यूलर, प्रिसेप, कनिंघम, मोनियर विलियम्स आदि पाश्चात्य विद्वान् बड़ी तत्परता से संस्कृत काव्य, नाटक, इतिहास, धर्मशास्त्र आदि का अनुशीलन करने लगे। शुरू में भारतवासियों ने इस ओर अधिक ध्यान न दिया। परन्तु १८७५ में आर्य समाज की स्थापना के बाद उनका ध्यान भी इस ओर आकृष्ट हुआ। इस आंदोलन ने उनको देश के प्राचीन गौरव की याद दिलाई। वे समझने लगे कि हमारी भी अपनी सभ्यता और संस्कृति है, अपना साहित्य है जो विश्वसाहित्य में विशेष महत्वपूर्ण स्थान रखता है। एक स्वर से उन्होंने वैदिक धर्म की महत्ता स्वीकार की और वैदिक ग्रन्थ दुनिया के सबसे पुराने ग्रंथ प्रमाणित हुए। विद्वानों ने संस्कृत ग्रन्थों का मंथन करना आरम्भ कर दिया और अनेकानेक ग्रन्थ प्रकाशित किए। बङ्ग देश में खोज का यह कार्य १८५७ से ही शुरू हो गया था। उस समय वहाँ पर सबसे पहले कालिदास कृत 'शकुन्तला' अभिनीत

हुआ। १८५८ में 'रत्नावली' रंगमंच पर खेला गया। संस्कृत ग्रन्थों के अनेक बङ्गाली संस्करण प्रकाशित हुए। हिन्दी में वैसे तो १८६१ से भारत के प्राचीन साहित्य की महिमा का उद्घाटन-कार्य आरम्भ हो गया था, परन्तु १८६८ से हिन्दी के विद्वान् भी बड़ी सरगरमी के साथ कार्य करने लगे।

इस सम्बन्ध में राजा लक्ष्मणसिंह का नाम कभी नहीं भुलाया जा सकता। स्वयं विद्याव्यसनी और पण्डित होने के अतिरिक्त वे पाश्चात्य विद्वानों के सम्पर्क में भी आए थे। १८६१ में उन्होंने कालिदास कृत 'शकुन्तला' का हिन्दी में अनुवाद किया। कालिदास की इसी रचना ने यूरोप के विद्वानों की आँखें खोल दी थीं। उसे पढ़कर वे भारतीय साहित्य की श्रेष्ठता के क़ायल हुए थे। १८६१ में राजा लक्ष्मणसिंह ने उसमें काव्यात्मक अंश नहीं रक्खे थे। १८८९ में उन्होंने उसमें काव्यात्मक अंश भी जोड़ दिए। राजा शिवप्रसाद ने अपने 'गुटका' में शामिल कर उनके अनुवाद का विशेष आदर किया। इसके बाद संस्कृत नाटकों का हिन्दी में अनुवाद करने वाले विद्वानों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : 'विद्या सुन्दर' (१८६८, बँगला से, संस्कृत में चौर कवि कृत), 'पाखण्डविडम्बन' (१८७२, कृष्ण मिश्र के 'प्रबोध-चन्द्रोदय' का तृतीय अंक), 'धनंजयविजय' (१८७३, कवि कांचन कृत), 'कर्पूरमञ्जरी' (१८७५, राजशेखर कृत), और 'मुद्राराक्षस' (१८७८, विशाखदत्त कृत) और लाला सीताराम, बी० ए०, उपनाम 'भूपकवि' (१८५८-१९३७) : 'महावीरचरित' (१८९७, भवभूति कृत[1]), 'उत्तररामचरित' (१८९७, भवभूति कृत), 'मालतीमाधव' (१८९८, भवभूति कृत), 'मालविकाग्निमित्र' (१८९८, कालिदास कृत), 'मृच्छ-कटिक' (१८९९, शूद्रक कृत), 'नागानन्द' (१९००, हर्षदेव कृत) के नाम महत्वपूर्ण हैं। इन अनुवादों का उद्देश्य कोई नाट्य-धर्म निर्धारित करना नहीं था। अनुवादक केवल संस्कृत साहित्य की अमूल्य निधियाँ हिन्दी-पाठकों के सामने रखना चाहते थे। वे या तो स्वतन्त्र अनुवाद हैं या अविकल अनुवाद। इन अनूदित ग्रन्थों ने अन्य लेखकों को भी इस ओर प्रोत्साहित किया। देवदत्त तिवारी : 'उत्तररामचरित' (१८७१), बिहार में सम्बलपुर के दुबे नन्दलाल विश्वनाथ (१८८२ र० का०) : 'उत्तररामचरित' (१८८६) और 'शकुन्तला' (१८८८), रामेश्वर भट्ट : 'रत्नावली' (१८९५), बालमुकुन्द गुप्त :

---

१. अँगरेजी में लिखित पहली आवृत्ति की भूमिका के अनुसार इस नाटक का अनुवाद बारह वर्ष पहले हुआ था परन्तु उस समय वह प्रकाशित न हो सका था। इस भूमिका की तिथि १८९९ है। उपर्युक्त तिथि हिन्दी भूमिका के अनुसार है। १८९७ के संस्करण में उनका कहना है :

'Unfortunately little has been done in the parent country to modernise these famous pronductions. Only two dramas have yet

'रत्नावली' (१८६८)[1] ज्वालाप्रसाद मिश्र (१८६२ र० का०) : 'वेणीसंहार नाटक' (१८६७ के लगभग), कृष्णबलदेव वर्मा : 'भर्तृहरि राजत्याग', और शीतलाप्रसाद : 'प्रबोधचन्द्रोदय नाटक' (१८७६) आदि ने संस्कृत की श्रेष्ठ रचनाओं का हिन्दी में अनुवाद किया। हिन्दी के विद्यारसिकों को संस्कृत नाट्-साहित्य से परिचित कराने के अतिरिक्त दुबे नन्दलाल विश्वनाथ का ध्येय संस्कृत छन्दों का हिन्दी साहित्य में प्रयोग कर उसकी श्रीवृद्धि करना भी था। उनके अनुवाद सुन्दर हुए हैं। १८७६ में शीतला-प्रसाद ने 'प्रबोधचन्प्रोय नाटक' संस्कृत और भाषा में टीका तथा व्याख्या सहित प्रकाशित किया। 'मृच्छकटिक' (ह०) 'रत्नावली' (१८६८) अज्ञात लेखकों द्वारा फिर अनूदित हुए। संस्कृत से अनूदित अनुवाद अविकल नहीं है। अनुवादकों ने मनमाने ढंग के नाटकीय विधानों आदि में परिवर्तन किए हैं।

भारतवर्ष में अँगरेजी शिक्षा के साथ शेक्सपियर का आगमन हुआ। स्कूलों और कॉलिजों में उनके नाटक पढ़ाए जाते थे। उनके और प्राचीन भारतीय नाटकों में बहुत-कुछ समानता होने के कारण शिक्षित लोगों में उनका प्रचार होते देर न लगी। १८७६ में तोताराम वर्मा ने जोसेफ़ ऐडीसन कृत 'केटो' (Cato) नामक सरस नाटक का 'केटो कृत्तान्त' के नाम से हिन्दी में अनुवाद किया। किसी भी विदेशी नाटक का हिन्दी में यह पहला अनुवाद है। इस नाटक में यह दिखाया गया हैं किस प्रकार रोम नगर निवासी केटो नामक धार्मिक पुरुष ने अपने स्वदेश-शत्रु सीजर की शरण में जाना अनुचित समझ आत्महत्या की। जहाँ तक हो सका हैं अनुवादक ने मूल रचना का अविकल अनुवाद करने की चेष्टा की है। नाम इत्यादि भी नहीं बदले गए। उसमें विविध दृश्यों (गर्भांकों) सहित पाँच अंक हैं। भाषा ब्रज रूपों से मिश्रित खड़ीबोली है। बाबू तोताराम ने उसका अनुवाद संस्कृत नाटकों की रीति पर प्रस्तावना सहित अनेक छन्दों में भी किया था। उसमें पात्रादि के नाम भी बदल दिए गए थे। किन्तु सम्भवतः वह प्रकाशित न हो सका। शेक्सपियर के नाटकों में से सर्वप्रथम 'Commedy of Errors' और फिर 'Merchant of Venice' का अनुवाद हुआ। इटावा-निवासी रत्नचन्द्र (१८४०-१६११)

---

appeared in Hindi viz. 'Shakuntala' by Raja Lakshman Singh and Mudra Rakshasa' by Babu Har.sh Chandra. No apology is therefore needed for the publications of the present series.'

१. पहले-पहल भारतेन्दु ने 'रत्नावली' का अनुवाद करना शुरू किया था। किन्तु एक स्थानीय थिएटर में उसके भद्दे अभिनय से खीज कर उन्होंने उसका अनुवाद करना बन्द कर दिया ('नाटक', पृ० ८३८-८३६)। असामयिक मृत्यु के कारण प्रतापनारायण मिश्र भी उसे पूर्ण न कर सके। अन्त में बलमुकुन्द गुप्त ने उसे हाथ में लिया।

ने १८७९ में 'Commedy of Errors'का 'भ्रमजालक' नाम से स्वतन्त्र अनुवाद किया। १८८० में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'Merchant of Venice' का 'दुर्लभ बन्धु या वंश-पुर का महाजन' के नाम से अनुवाद प्रकाशित किया। अनुवाद की दृष्टि से रत्नचन्द्र को भारतेन्दु की अपेक्षा अधिक सफलता मिली है। उन्होंने शेक्सपियर की नाटकीय कथावस्तु को अत्यन्त सुन्दर ढङ्ग से और सफलतापूर्वक भारतीय आवरण दिया है। 'भ्रमजालक' में ईफ़ीसस (Ephesus) के स्थान पर चीन का पट्टन नगर घटना-स्थल रक्खा गया है। चरित्रों के नाम भारतीय हैं। पात्रों के नामों, आचार-विचारों और रीति-रस्मों में आवश्यक परिवर्तन कर दिए गए हैं। किन्तु जहाँ तक हो सका है अनुवादक ने कथानक ज्यों-का-त्यों रहने दिया है। युगल जुड़वा भाइयों के नाम छोटा हिंडोल, बड़ा हिंडोल और छोटा यज्ञदत्त बड़ा यज्ञ दत्त हैं तथा देवदत्त और पद्मावती छोटा यज्ञदत्त और बड़ा यज्ञदत्त के पिता और माता के नाम हैं। इन युगल जुड़वाँ भाइयों की कहानी का अत्यंत रोचक ढंग से हिन्दी में रूपान्तर हुआ है। 'The Merehant of Venice' की कहानी भारतवर्ष में हमेशा से अँगरेजी शिक्षित जनता द्वारा पसंद की जाती रही है। 'दुर्लभ बन्धु' का कथानक तो ज्यों-का-त्यों है, किन्तु अनुवादक ने विदेशी नामों और स्थानों के बदले देशी नाम और स्थान रख दिए हैं, जैसे, ऐन्टोनिओ के स्थान पर पुरश्री, शाइलॉक के स्थान पर शैलाक्ष, ट्रिपोली के स्थान पर त्रिपुल आदि। ईसाइयों और यहूदियों का स्थान आर्यों और जैनों ने ग्रहण कर लिया है। यहूदियों और जैनों की तुलना रुचिकर प्रतीत नहीं होती भारतवर्ष में आर्यों और जैनों में इतना संघर्ष नहीं रहा जितना यूरोप में ईसाइयों और यहूदियों में था। इसके अतिरिक्त भाव, रीति-रस्म, आचार-विचार और घटनाएँ बहुत कुछ विदेशी रूप में रहने दी गई हैं। मूल के काव्यात्मक अंश गद्य में रक्खे गए हैं। भारतेन्दु की इस रचना में असामंजस्य और गड़बड़ी भी उपस्थित हो गई है, जैसे, 'उनका एक जहाज त्रिपुल को गया है, दूसरा हिन्दुस्तान को'। कथा के भारतीय आवरण में होने पर हिन्दुस्तान को जहाज़ जाना कुछ अजीब सा मालूम होता है। वास्तव में पूर्ण से अविकल या पूर्ण रूप से स्वतन्त्र अनुवाद न करने से 'दुर्लभ बन्धु' में अनेक अ-स्वाभाविक और असंगत स्थल हैं। केवल व्यक्तियों और स्थानों के नामों में परिवर्तन कर देने से ही कथा भारतीय रूप धारण नहीं कर सकती। भारतीय रूप देने के लिए पश्चिम और पूर्व के भेद पर ध्यान रखना आवश्यक था। 'दुर्लभ बन्धु' के अभिनय के समय विज्ञ और चतुर दर्शक उसकी असङ्गत बातें तुरन्त पकड़ लेंगे। अच्छा होता यदि भारतेन्दु 'Merchant of Venice' का अविकल अनुवाद प्रकाशित कर हिन्दी-पाठकों को विदेशी सभ्यता और संस्कृति से परिचित कराते। इससे उसका ज्ञान-सम्बन्धी (Academic) महत्व बना रहता। राधाकृष्णदास के कथनानुसार भारतेन्दु

'दुर्लभ बन्धु' का अनुवाद अपूर्ण छोड़ गए थे। सम्भव है बाद को जिस अनुवादक ने उसे पूर्ण किया उसने असावधानी से काम किया हो। भारतेन्दु उसे कितना अपूर्ण छोड़ गए थे, राधाकृष्णदास ने इस सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं दिया। अविकल अनुवाद जबलपुर की आर्या नामक महिला : 'वेनिस नगर का व्यापारी' (१८८८, 'Merchant of Venice') और जयपुर के पुरोहित गोपीनाथ, एम० ए०, : 'मनभावन' (१८९६, 'As you like it') और 'प्रेमलीला'[1] (१८९७, 'Romeo and Juliet') ने किए जिनमें उन्हें पूरी सफलता मिली है। आर्या जबलपुर की रहने वाली और अँगरेज़ी की अच्छी ज्ञाता थीं। उनका ध्येय भारत में शेक्सपियर की रचनाओं का प्रचार करना था। उनके अनुवाद की भूमिका सर एड्विन आर्नल्ड, सी० एस० आई० ने लिखी है। आर्या ने पद्यांशों का अनुवाद पद्य ही में दिया है। ये पद्यात्मक अनुवाद बनारस कॉलेज के सूर्यप्रसाद मिश्र, साहित्योपाध्याय ने किए थे। पुरोहित गोपीनाथ ने पद्यात्मक अंशों का अनुवाद गद्य में किया है। जहाँ तक हो सका है दोनों ने मूल के अनुसार ही कवि के गम्भीराशयों को अत्यन्त सुन्दर रूप में रक्खा है। १८९३ में मिर्ज़ापुर के मथुराप्रसाद उपाध्याय शर्मा, बी० ए०, ने शेक्सपियर के ''Macbeth' का 'साहसेन्द्र साहस' के नाम से स्वतन्त्र अनुवाद किया। उन्होंने कथा को भारतीय आवरण दे दिया है। उसमें भारतेन्दु के 'दुर्लभ बन्धु' की-उलझन पैदा नहीं होने पाई।

बङ्गाल में सबसे पहले शिक्षा का प्रचार होने से वहाँ नाटक-क्षेत्र में विशेष उन्नति हो गई थी। वहाँ के देशी-विदेशी धनिक-वर्ग और विद्वानों ने इस कला को उच्च शिखर पर पहुँचा दिया था। हिन्दी में भारतेन्दु और श्रीनिवासदास की मृत्यु के बाद पारसी चाल पर लिखे गए नाटकों की भरमार थी। सुहृद और शिक्षित समाज उनको हीन रचनाएँ समझता था। ऐसी अप्रौढ़ रचनाओं ने विद्वानों और कलाविदों को चिन्तित बना दिया। उन्होंने उनकी अपेक्षा प्रौढ़

---

१. 'मनभावन' के प्रगट होने पर कितने ही महाशयों ने यह आक्षेप किया था कि मुहावरा कहीं-कहीं अंगरेज़ी है, अतएव यह जतलाना आवश्यक है कि मैं केवल अनुवादक मात्र हूँ। जहाँ तक संभव है कवि के अक्षरों और शब्दों और वाक्यों में ही कवि का आशय प्रगट करना अपना परम कर्त्तव्य मानता हूँ। इसीलिए जहाँ तक चल सका है मैंने कवि के गम्भीराशय को कवि ही के अक्षरों, शब्दों, वाक्यों और मुहावरों में प्रगट करने का प्रयत्न किया है।"—पुरोहित गोपीनाथ : 'प्रेमलीला'

अनूदित रचनाएँ जनता के सामने रखना अधिक श्रेयस्कर समझा। इस उद्देश्य से प्रेरित होकर रामकृष्ण वर्मा (१८५९-१९०६) ने 'पद्मावती' (१८८९, राजकिशोर दे कृत), 'वीरनारी' (१८८९, द्वारिकानाथ गांगुली कृत) और 'कृष्णाकुमारी' (१८९९, मधुसूदन दत्त) और गाज़ीपुर के मुंशी उदित नारायणलाल वकील (१८८७ ई० का०) ने 'सती नाटक' (१८८९, मनमोहन बसु कृत), 'दीपनिर्वाण' और 'अश्रुमती नाटक' (१८९५) बँगला से अनुवाद प्रकाशित किए परन्तु इस काल में बँगला से अनूदित नाट्य-ग्रन्थों का हिन्दी-नाटकों पर कोई विशेष प्रभाव पड़ा मालूम नहीं देता।[1] १८८८ में पण्डित ब्रजनाथ ने माईकेल मधुसूदन दत्त कृत सामाजिक प्रहसन 'एकीकी बाले सभ्यता' का 'क्या इसी को सभ्यता कहते हैं?' के नाम से हिन्दी में अनुवाद किया। बाद को शोभा बाज़ार प्राइवेट थिएट्रीकल सोसायटी तथा टैगौर ट्रूप जैसी शौकिया कंपनियों ने स्वतन्त्र या आंगिक रूप में उसका अभिनय किया था। इसमें अंगरेज़ी शिक्षा का कुप्रभाव दिखाया है। १८७७ में केशवराम भट्ट (१८५४—लगभग १९१४) ने बँगला के 'शरत् और सरोजिनी' के आधार पर 'सज्जाद सुम्बुल' और १८८० में 'सुरेन्द्र विनोदिनी' के आशय पर 'शम्शाद सौसन' नामक सुन्दर नाटकों की रचना की। इन दोनों नाटकों का कथानक आधुनिक और प्रेमपूर्ण है। नायक और नायिकाएँ सभ्य, सुसंस्कृत और कुलीन मुसलमान वंशोद्भव हैं। उनकी सीधी और सरल लखनवी उर्दू अत्यन्त प्यारी मालूम देती है। सामाजिक और शिक्षा-सम्बन्धी विषयों पर उनमें प्रगतिशील दृष्टिकोण से विचार किया गया है। वे स्वतन्त्रता की भावना से ओतप्रोत हैं। 'सज्जाद सुम्बुल' में सज्जाद नायक और सुम्बुल नायिका है। अम्बेर (विहार) का जमींदार सज्जाद अँगरेज़ी शिक्षित था। देश की पतित अवस्था पर उसे दुःख

---

१. 'वीरनारी' और 'कृष्णाकुमारी' ऐतिहासिक हैं। 'दीपनिर्वाण' में मुसलमानी आक्रमण द्वारा भारतीय स्वतंत्रता का दीप बुझ जाता है। 'पद्मावती' पाँच अंकों में शृङ्गार रस पूर्ण नाटक है। नारद ने कुबेर की स्त्री मुरजा और रति में से अधिक सुन्दर को इनारू फल देने का वचन दिया। झगड़ा होने पर विदर्भ नगर के राजा इन्द्रनील ने रति के पक्ष में फैसला कर उसे दे दिया। मुरजा ने उससे बदला लेने और रति ने उसकी सहायता करने की प्रतिज्ञा की। इन्द्रनील और महेश्वरपुरी के राजा यज्ञसेन की पुत्री पद्मावती में स्वप्न-दर्शन द्वारा प्रेम उत्पन्न होता है। मुरजा यह नहीं जानती कि पद्मावती पूर्व जन्म में उसी की पुत्री और पार्वती के शापवश पृथ्वी पर अवतरित हुई थी। वह तरह-तरह के विघ्न डालती है। अंत में रति की सहायता से दोनों का सम्मिलन और विवाह होता है।

था। सुम्बुल का पिता मीरदाद का ज़मीदार था। जिस समय उसकी मृत्यु हुई उस पर काफ़ी ऋण जिसे था सज्जाद ने चुकाया। सुम्बुल की माँ उसे सज्जाद के आश्रय में छोड़ कर मर गई। सुम्बुल और सज्जाद की बहन गुलशन दोनों शिक्षिता हैं और पर्दा नहीं करतीं। उसके बाद एक ओर तो खानशाह (बिहार) का ज़मींदार शमशेर बहादुर सज्जाद को परेशान करता है, उधर दूसरी ओर सज्जाद के एहसान का बोझ न सह सकने के कारण सुम्बुल घर छोड़ कर चली जाती है। सज्जाद उसे ढूँढ़ने निकल पड़ता है। दोनों को अनेक विपतियों का सामना करना पड़ता है। सज्जाद को कुछ क्रान्तिकारी दल के लोग मिलते हैं जो अँगरेज़ी राज्य को मिटा देना चाहते हैं। वह आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से तथा सामाजिक और धार्मिक अन्धविश्वासों को दूर करने के लिए अँगरेज़ी राज्य ज़रूरी समझ कर 'आनन्द मठ' वाली भावना का परिचय देता है। अन्त में सब मिल जाते हैं और सज्जाद और सुम्बुल, और अब्बास और गुलशन का विवाह हो जाता है। नाटक में प्रस्तावना नहीं है। कथानक अनेक झाँकियों (दृश्यों) सहित छः अकों में विभाजित है। मुसलमान पात्र उर्दू और बंगाली क्रान्तिकारी संस्कृत शब्दों से मिश्रित टूटी-फूटी हिन्दी बोलते हैं। 'शमशाद सौसन' में रो ज्वाइन्ट मजिस्ट्रेट जैसा बदमिज़ाज सिविलियन भारत में ब्रिटिश नौकरशाही का अच्छा नमूना है जो अपने को विजयी देश का बता कर भारत को घृणा की दृष्टि से देखता है और न्याय-अन्याय का भेदभाव न कर मनमानी करने में नहीं हिचकता। शमशाद भी एक वीर, शिक्षित, राट्रप्रेमी और निर्भीक युवक की भाँति उसका मुकाबलता करता है। उससे तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक जागृति का अच्छा परिचय मिलता है।वास्तव में केशवराम भट्ट, और पण्डित ब्रजनाथ की कृतियों में मौलिकता, प्रौढ़ता और रचना-सौन्दर्य नामक गुण हैं जो हमें नए आदर्श की ओर खींच ले जाते हैं। वे दोनों अपनी रचनाओं में कृतकार्य हुए हैं।

भारतेन्दु कृत 'नाटक' में लिखा है कि हिन्दी का सब से पहला नाटक जो १८६८ में बनारस थिएटर में खेला गया 'जानकी मङ्गल' था। रामायण की कथा निकाल कर यह नाटक पं० शीतलाप्रसाद त्रिपाठी ने बनाया था। १८७७ में एक बङ्गाली थिएटर 'विद्यान्त नाट्यशाला' के नाम से लखनऊ में थी। उसमें स्वयं रामगोपाल विद्यान्त द्वारा बँगला से अनूदित पाँच अंकों का 'रामाभिषेक नाटक' खेला गया था। उक्त नाटक में अधिवास से लेकर बनवास तक की कथा है। प्रस्यावगा, विदूषक और दर्शकों के मनोरञ्जन के लिए सङ्गीत की अवतारणा की गई है। फिर बनारस के नैशनल थिएटर में भारतेन्दु कृत 'अन्धेर नगरी' और प्रयाग और कानपुर में क्रमशः 'रणधीर प्रेममोहिनी' और 'सत्य हरिश्चन्द्र' खेले गए थे। विक्टोरिया की जुबिली के अवसर पर सम्बलपुर के मैरिस

हाईस्कूल के विद्यार्थियों ने दुबे नन्दलाल विश्वनाथ कृत 'शकुन्तला' के द्वितीय अंक का अभिनय किया था, जो उड़िया और हिन्दी-भाषियों दोनों को बहुत अच्छा लगा। उस समय पश्चिमोत्तर प्रदेश में कोई शिष्ट रङ्गमञ्च और नाटक-समाज नहीं था। वास्तव में बम्बई के सस्ते ढंग के पारसी थिएटरों के कारण हिन्दी रंगमंच की सम्यक् उन्नति को बड़ा भारी धक्का पहुँचा। सुहृद समाज इन पारसी थिएटरों को निकृष्ट और दुराचार के अड्डे समझता था।

पहले यह बताया जा चुका है कि मुग़लकालीन भारत में नाट्य-कला का ह्रास हो गया था और उसका जो रूप मिलता था वह रासलीला, रामलीला और स्वाँग के रूप में था। वह भी अत्यन्त शोचनीय अवस्था में था। लीला-मण्डलियाँ घूम-घूम कर धार्मिक एवं पौराणिक लीलाएँ दिखाती फिरती थीं। उनके अभिनय में नाच गाने, चेहरों, चमकीली वेशभूषा, मज़ाकिया पार्ट, असाधारण घटना के लिए trap door (ट्रैप डोर) आदि की प्रधानता रहती थी। पुरुषों को ही स्त्रियों का रूप धारण करना पड़ता था। उनका कोई नियम नहीं था। और न बनाया ही जा सकता था। 'गोपी चंद', 'पूरन भगत', 'हक़ीक़त राय', आदि[1] स्वाँगों में परम्परागत नाच-गानों का विशेष स्थान था। 'आधुनिक प्रेक्षागृहों की उत्पत्ति से पहले देशी रंगमंच का यही रूप था। और हिन्दी नाटकों के अभिनय के लिए जो रंगमँच अपनाया गया वेशभूषा, trap door (ट्रैप डोर) और विषयों की दृष्टि से उससे सम्बन्ध ज़रूर था, परन्तु उसकी उत्पत्ति कहीं और हुई थी - उसके पर्दे, दृश्य, व्यवस्थापना, प्रबन्ध आदि में पारसी रंगमंच के माध्यम द्वारा अँगरेज़ी रंगमंच का प्रभाव स्पष्ट लक्षित है।[2] यहाँ पर इस बात का संकेत कर देना भी आवश्यक है कि हिन्दी शिक्षित समाज पारसी रंगमंच को नहीं वरन् उस पर दिखाई गईं अश्लील बातों और अकलात्मक प्रदर्शन को दूषित समझता था।

१८५७ के प्लासी-युद्ध से पहले कलकत्ते में अँगरेज़ी रंगमंच की स्थापना हो चुकी थी। अँगरेज़ अपने मनोरंजन के लिए विभिन्न नाटकों का अभिनय किया करते थे। गिरीशचन्द्र घोष के समय तक बंगाली रंगमंच भी स्थापित हो चुका था जिसके अभिनयों में लोग शौकिया भाग लेते थे। अँगरेज़ी रंगमंच से उन्होंने अनेक बातें अपनाईं। बम्बई में भी अँगरेज़ी रंगमंच था। १७७० में 'बौम्बे ग्रीन' (एलफ़िन्सटन सर्किल) के पुराने मैदान में सरकार की ओर से मिली हुई ज़मीन पर बम्बई का सब

---

१. अन्य अनेक स्वाँग लिखे गए. जैसे, ज्ञानसागर प्रेस, मेरठ द्वारा प्रकाशित 'स्वाँग व नाटक सुदामा जी का', प्रतापनारायण मिश्र कृत 'सांगीत शकुन्तला' (ह०)। मुरादाबाद के पं० छब्बीलाल मिश्र ने भी कई स्वाँग लिखे।

२. दे०, रा० के० याज्ञिक : 'दि इंडियन थिएटर'

से पहला थिएटर चन्दे से बना । यूरोपियन लोग प्रहसनों, नाट्य-गीतों, मूक अभिनयों और कभी-कभी शेक्सपियर कृत तथा अन्य गंभीर रचनाओं के अभिनयों में शौकिया भाग लेते थे । पारसियों और हिन्दुओं का ध्यान इन नवीन अभिनयों की ओर आकृष्ट हुए बिना न रह सका । १८४२ में जगन्नाथ शंकरनाथ ने अपना निजी (प्राइवेट) थिएटर स्थापित भी कर दिया था । यही फिर मराठी रंगमंच में विकसित हुआ । किन्तु बंगाल से विपरीत बम्बई का रंगमंच शीघ्र ही पारसियों की वणिक वृत्ति का शिकार बन गया । उन्होंने उसे धनोपार्जन का साधन बनाया और बम्बई से लेकर उत्तर भारत तक अपने रंगमंच पर अनेक नाटकों के अभिनय किए । बड़े-बड़े शहरों में स्थायी रूप से निर्मित अभिनयशालाओं के अतिरिक्त वे अस्थायी अभिनयशालाएँ बना-बना कर एक शहर से दूसरे शहर घूमने लगे । उत्तर भारत में वे अपनी भाषा का प्रयोग तो कर नहीं सकते थे, इसलिए उन्होंने हिन्दी-उर्दू का ऐसा मिश्रित रूप ग्रहण किया जिसमें उर्दूपन प्रधान था, या कहना चाहिए उन्होंने उर्दू ग्रहण की । पारसियों में अभिनय-कला की प्रतिभा थी और वे बम्बई के रंगमंच का प्रचार करने वालों में अग्रगण्य थे । उर्दू या पारसी रंगमंच के प्रतिष्ठापक सेठ पेस्टनजी माने जाते हैं जिन्होंने १८७० के लगभग ऑरिजिनल थिएट्रीकल कंपनी खोली । तत्पश्चात् अन्य कई पारसी कंपनियाँ स्थापित हुईं । पारसी कंपनियों के रंगमंच ने बम्बई में स्थापित अँगरेज़ी रंगमंच का, जो शेक्सपियरकालीन रंगमंच के आधार पर था, अनुकरण किया । पारसियों ने उसमें आवश्यक परिवर्तन कर लिए थे । प्रत्येक कंपनी का अपना लेख़क होता था जो अभिनय के लिए नाटकों की रचना करता था । ये लेखक अभिनय में भी भाग लेते थे और इसलिए रंगमंच का व्यावहारिक अनुभव रखते थे ।

अस्तु, हिन्दी-प्रदेश में पारसी रंगमंच का प्रचार होने से पूर्व बंगाल और महाराष्ट्र में रंगमंच की बहुत उन्नति हो गई थी । कहा जाता है कि पारसी रंगमंच पर उर्दू का सबसे पहला ज्ञात ऑपेरा अमानत कृत 'इन्दरसभा' (१८५३) बम्बई में खेला गया था । अमानत प्रसिद्ध कवि नासिख के शिष्य और वाजिद अली शाह के दरबारी थे । अपने आश्रयदाता के कहने से उन्होंने 'इन्दर सभा' की रचना की थी । क़ैसरबाग़, लखनऊ में उसका अभिनय हुआ और स्वयं वाजिद अली शाह ने उसमें भाग लिया । यह खेल इतना मशहूर हुआ कि न केवल अमानत की 'इन्दर सभा' ही नागराक्षरों में प्रकाशित हुई, वरन् मदारीलाल कृत और दर्यायी 'इन्दरसभा' भी १८८० में हिन्दी में प्रकाशित हुईं । दर्यायी 'इन्दर सभा' में सब्ज़परी और शाहज़ादे में प्रेम है । इन्दर नहीं चाहता कि वह किसी मानव से प्रेम करे । वह काले देव द्वारा शाहज़ादे के गुलफ़ाम को पकड़वा लेता और कुएँ में क़ैद करा देता है । सब्ज़परी योगिन के वेष में इन्दर सभा में आती है और अपने गानों से उसे खुश कर लेती है ।

वरदान के रूप में गुलफ़ाम छूट जाता है और सब्ज़परी और शहज़ादे का विवाह हो जाता है। अमानत कृत 'इन्दर सभा' की रचना के एक वर्ष बाद ही हिन्दी में 'नाटक छैल-बटाऊ मोहना रानी का' (१८५४), 'मुछन्दर सभा' आदि आॅपेरा अमानत की रचना की शैली पर लिखे गए। 'नाटक छैल बटाऊ·····' में दिल्ली के राजा छैल बटाऊ और उम्दा नगर (गुजरात) की मोहना रानी की सुखान्त गीतपूर्ण प्रेम कहानी है। मुछन्दर सभा' का कथानक 'इन्दर सभा' की भाँति है, केवल इन्दर, गुलफ़ाम और सब्ज़परी के स्थान पर मुछन्दर, शाहज़ादा और शरारत परी के नाम रख दिए गए हैं। उसमें छः अंक और तड़क-भड़क वाले अनेक दृश्य हैं। इन रचनाओं की भाषा हिन्दी-उर्दू मिश्रित है। हाफ़िज़ मुहम्मद अब्दुल्ला और मिर्ज़ा नज़ीर बेग उर्दू के प्रसिद्ध नाटककार और अभिनेता थे। उन्होंने पारसी कंपनियों के अनुकरण पर इंडियन इम्पीरियल थिएट्रीकल कंपनी, इंडिया आॅपेरा थिएट्रीकल कंपनो, लाइटनिंग थिएट्रीकल कंपनी, पारसी जुबिली थिएटर कंपनी आॅव बॉम्बे तथा नवाब मुहम्मद वज़ीर जान ने दि मून आॅव इंडिया कंपनी आदि नाटक कंपनियाँ खोल रक्खी थीं या धौलपुर में पीटर्न (Petern) कंपनी थी। बाँस बरेली के रईस अमीनउद्दीन खाँ ने भी दि हर मैजेस्टी विक्टोरिया ड्रामैटिक थिएट्रीकल कंपनी खोली थी। हाफ़िज़ मुहम्मद अब्दुल्ला चितौरा, ज़िला फ़तेहपुर, के मुंशी शेख इलाही बख्श के लड़के थे। १८८१ में उनके 'ज़ोहरा बहराम नाटक' की पाँचवीं आवृत्ति प्रकाशित हुई। १८८५ में उनका 'शकुन्तला' नामक पौराणिक नाटक प्रकाशित हुआ। कहा जाता है उसमें उर्दू ड्रामा के बीज निहित हैं। ये रचनाएँ लेखक की इंडियन इम्पीरियल थिएट्रीकल कंपनी और धौलपुर की पीटर्न कंपनी में खेले जाने के लिए निर्मित हुई थीं। मिर्ज़ा नज़ीर बेग उर्फ़ नज़ीर अकबराबादी आगरे के मिर्ज़ा अशरफ़ बेग के लड़के और हाफ़िज़ मुहम्मद अब्दुल्ला के शिष्य थे। पहले वे इंडियन इंपीरियल थिएट्रीकल कंपनी के प्रधान अभिनेता थे। बाद को वे इंडिया आँपेरा थिएट्रीकल कंपनी, लखनऊ, लाइटनिंग आॅव इंडिया थिएट्रीकल कंपनी और बाँस बरेली के रईस अमीनउद्दीन खाँ की दि हर मैजेस्टी विक्टोरिया ड्रामैटिक थिएट्रीकल कंपनी के मैनेजिंग डाइरेक्टर और पारसी जुबिली थिएटर कंपनी आॅव बम्बे के डाइरेक्टर थे। १८९० में उन्होंने 'नाटक मार्के लंका मारूफ़बे रामलीला नाटक' और १८९३ में 'नाटक चमन नो बाहर मारूफ़बे राजा सखी कृष्ण औतार' की रचना की। तत्पश्चात् अपनी कंपनियों के लिए हाफ़िज मुहम्मद अब्दुल्ला और नज़ीर बेग ने 'हीर राँझा' (न०), 'लैला-ओ-मजनूँ' (हा०), 'बहारे इश्क़' (न०), 'फ़िसाने अजायब' (१८८८, न०), 'फ़साने गमगमी मारुफ़बे इश्क़ फ़रहाद व शीरीं' (१८८१, हा०), 'इश्क़ जानि आलम' (१८८८, न०), 'तमाशा गर्दिश तक़दीर मारूफ़बे सत हरिश्चन्द्र नाटक' (१८९०-९१, न०), 'आशिक की वफ़ा माशूक़ की जफ़ा मारुफ़बे क़िस्सा माही-

गीर व दिलवर लक़ा' (१८९३, न०), 'गुलज़ार आशिक़ी मारुफ़बे चित्राबकावली' (१८९४, न०), 'गुलशन पाकदामिनी मारूफ़बे नई चन्द्रावली लासानी' (१८९६, न०) आदि अनेक ऑपेरा नाटक लिखे। प्रचार की आवश्यकतानुसार उनके नागरी रूपान्तर तथा 'अलीबाबा', 'पूरन भगत' आदि भी प्रकाशित हुए।

इनमें से कुछ नाटकों के कथानकों से शेष रचनाओं के कथानकों का अनुमान लगाया जा सकता है। उनमें इश्क़ खास चीज़ है। शीरीं और फ़रहाद, लैला और मजनूं, हीर-राँझा के क़िस्से तो प्रसिद्ध ही हैं। 'क़िस्सा माहीगीर व दिलवर लक़ा' क़िस्सा नौ रतन से लिया गया है। मुल्क यमन के बादशाह दिलवर शाह ने जाँबाज़ माहीगीर को हर रोज़ माही का दिल लाने की आज्ञा दी। यदि किसी दिन दिल न मिला तो फ़ाँसी की सज़ा। वह रोज़ दिल पहुँचाने लगा। इसी बीच में उसका दिलवर लक़ा शहज़ादी से प्रेम हो गया। एक दिन वे दोनों प्रेम में ऐसे मदहोश हुए कि माही-गीर दिल लाना भूल गया। अब तो वह फ़ाँसी के डर से बहुत घबड़ाया। शहज़ादी ने कहा घबड़ा मत। मुल्क तातार का सौदागर जाँफ़िदा उस पर मोहित हो वहीं पड़ा था। दिलवर लक़ा ने उससे उसका दिल माँगा, उसने चीर कर दे दिया। दिल जब शाह के बावर्ची-खाने में पहुँचा तो बोलने लगा। यह देख कर बावर्ची घबड़ाया। शाह ने सुन कर शेखसादी नामक एक इल्मी शख्स को इसकी तहक़ीक़ात के लिए नियत किया। पता लगने पर शाह माहीगीर से बहुत बिगड़ा और उसे जाँबाज़ तीरों से छिदवा दिया। उसने शहज़ादी से दिल सौदागर के बदन में रखवाया और दोनों का विवाह कराया। इस नाटक में अनेक दृश्यों सहित दो अंक हैं और चड्डागुलखैरू, चूरन वाला आदि हास्य रस के पात्र हैं। 'चित्राबकावली' का क़िस्सा गुलबकावलो से लिया गया है। ताजुलमलक नामक मनुष्य से प्रेम करने पर राजा इन्दर ने बका-वली परी को एक देवी की मूर्ति के रूप में एक मन्दिर में क़ैद कर दिया। सिंहल द्वीप के राजा चित्रसेन की लड़की चित्रा भी ताज से प्रेम करती थी। किन्तु ताज बकावली के पीछे पागल था। इश्क की तक़लीफ़ों और शिकायतों के बाद वे दोनों बकावली की आज्ञा लेने उसके पास गए। बकावली की आज्ञा से दोनों ने शादी कर ली। इस नाटक में अनेक दृश्यों सहित तीन अंक हैं। 'नई चन्द्रावली लासानी' की रचना पारसी जुबिली कम्पनी की चीफ़ ऐक्ट्रेस बी शीरीं जान की फर्मायिश से हुई थी। चन्द्रनगर के राजा और रानी चन्द्रसेन और चन्द्रबदन की राजकुमारी चन्द्रावली जोबन नगर के राजा जोबनसिंह से प्रेम करती थी। हिमाक़त सिंह, जालम बटमार, ज़बरदस्त खाँ आदि की बदमाशियों के बाद भी वह अपने प्रेमी से विवाह करने में सफल हुई। अनेक दृश्यों सहित चार अंकों में कथानक समाप्त हुआ है। इन नाटकों में गानों की बहरें अरबी, हिन्दी और अँगरेज़ी की हैं। स्टेज के मुताबिक़ पर्दे लगाए

जाते थे। अल्फ्रेड कम्पनी के या बम्बई के सेठ दादा कृष्ण जी के अलाउद्दीन, अली-बाबा आदि नाटकों में जो तर्जें रहती थीं वही तर्जें इन नाटकों में भी रक्खी गईं। नाटककार लेखक होने के साथ-साथ अभिनेता, डायरेक्टर आदि भी होते थे। 'ज़ोहरा बहराम' की कहानी 'बहार दानिश' से ली गई और उसमें बहराम और ज़ोहरा के प्रेम तथा अन्त में विवाह का वर्णन किया गया है।

इस शैली पर हिन्दी में भी अनेक नाटकों की रचना हुई। १८८६ में मथुरा के चुन्नीलाल ने 'हरिश्चन्द्र नाटक' लिखा और सज्जन सभा की अध्यक्षता में गोविन्द-गञ्ज, होली दरवाज़े पर ठाकुर लक्ष्मणसिंह के अहाते में वह अभिनीत भी हुआ। उसमें मंगलाचरण है और नाट्यकार तथा सूत्रधार में सम्भाषण होता है। उसका सूत्रधार कम्पनी के मैनेजर के रूप में है। कथानक सात अंकों में विभाजित है। उसमें दृश्य नहीं रक्खे गए। पारसी कंपनियों की चाल पर उसमें कथनोपकथन पद्य में कराए गए हैं। भाषा में ब्रज और खड़ीबोली का मिश्रण है। १८९० से पहले महताफराय कायस्थ ने इसी ढंग के 'हरिश्चन्द्र' और 'रामलीला' नाटक लिखे। उनका 'रामलीला' नाटक देख कर ही नज़ीर बेग ने अपने 'रामलीला' नाटक की रचना की। १८९२ में राय साहब मथुरादास ने 'चन्द्रावती' नामक नाटक की रचना की। इसी समय के लगभग इटावा के मौलवी खुदाबख्श के लड़के बख्श इलाही उपनाम नामी की 'नागर सभा', 'नामीसभा', 'आशिक़ सभा' आदि तथा 'क़त्ल हक़ीक़त राय', 'अंजाम बदी' नाटक जैसी अन्य रचनाएँ प्रकाशित हुईं। उनकी देखा-देखी अनेक ऐसे नाटकों की हिन्दी में रचना हुई। इन सब की रचना पारसी खेलों के अनुकरण पर हुई है। उनके पात्र मौक़े-बेमौक़े गाया ही करते हैं और पद्यों में बातचीत करते हैं। बड़े-बड़े राजा-महाराजा तक अपना गौरव भूल कर गाने और नाचने लग जाते हैं। ग़ज़ल, ठुमरी, दादरा, दोहा, छप्पय, हरिगीतिका आदि छन्दों का प्रयोग हुआ है। उसमें जितना ध्यान अत्यधिक हाव-भाव-प्रदर्शन और गानों पर दिया गया है उतना चरित्र-चित्रण पर नहीं दिया गया।

१८८३ में 'नाटक' की रचना के समय पारसी कंपनियों का काफ़ी प्रचार हो चुका था। उनमें जो नाटक खेले जाते थे उनकी बुरी दशा थी। वहाँ भारतेन्दु ने 'पतली कमर बल खाय' गाते और एक हाथ कमर के नीचे और दूसरा अपने सिर पर रक्खे हुए गँवार स्त्रियों की तरह नाचते हुए शकुन्तला देखी थी। पारसी चाल के नाटकों के नायक-नायिकाएँ दिलफेंक मर्द-औरतों की तरह बात करते पाए जाते हैं। नज़ीर के 'रामलीला' नाटक में राम और सीता आपस में बात करते समय 'कटारी', 'जानी', 'दिलजानी', 'जोबन उभारना' या

'परमेश्वर ने क्या सूरत है ये सँवारी,
सीता ने जिगर पै नैन कटारी मारी।
अलबेली बाँकी तिरछी बिरछी चितवन।
चलते में लचके कमर हिचकती कामन।'

आदि का प्रयोग करते हैं। ऐसे और अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। वास्तव में इन नाटकों में भद्दे गीत, ऊटपटाँग और अश्लील हाव-भाव-प्रदर्शन और कुढंगे नाचों के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता था। भारतेन्दु ने तभी तो इन नाटकों और नाटक-घरों की निन्दा की है। उन्होंने जनता की रुचि परिमार्जित करने का भरसक प्रयत्न किया। परन्तु हिन्दी-रङ्गमंच की पूर्ण प्रतिष्ठा करने के लिए वे अधिक काल तक जीवित न रह सके।

अस्तु, उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के नाट्य-साहित्य का प्रधान उद्देश्य धार्मिक और सामाजिक सुधार एवं देश-प्रेम था। लोग नाच-गानों के लोभ से पारसी कंपनियों की ओर अधिक आकृष्ट होते थे। उन्हें इन्द्रसभा, गुलबकावली जैसे नाटक ही रुचते थे। हिन्दी नाटककारों ने सोचा कि नाटक ऐसे होने चाहिए जिनसे मनुष्य के हृदय में बुराई से घृणा और भलाई से प्रीति उत्पन्न हो अथवा जिससे देश में प्रचलित बुराई दूर और भलाई का प्रचार हो। जनता की रुचि की परितुष्टि के लिए उन्होंने अपने नाटकों में गाना-बजाना आदि तो पारसी खेलों के समान परन्तु उद्देश्य देशोपकारी और धर्मरक्षक रक्खा। अतः अधिकांश में यह नाट्य-साहित्य प्रचारात्मक है। भारत की श्रद्धालु जनता ने उसी को अपनाया। उधर लीलाओं में 'मोरध्वज', 'ध्रुव', 'गोपीचन्द', 'द्रौपदी', 'शकुन्तला', 'सीता-बनवास', 'कंस', 'एकादशी' आदि का जनता में अत्यधिक प्रचार था। ये लीलाएँ भी बड़े ठाठ-बाट के साथ रङ्गमंच पर दिखाई जाने लगीं। रङ्गमंच पर प्रदर्शित युद्ध, रावण या कंस-वध, दुष्ट-दमन, पातिव्रत धर्म, भक्तों की कठिन परीक्षा, प्रेम-लीला, दुःख, वेदना आदि बातों से जनता अत्यधिक प्रभावित होती थी, यद्यपि उनमें कलात्मक अंश का प्रायः अभाव रहता था। धार्मिक और सामाजिक, कुछ हद तक ऐतिहासिक, नाटकों और प्रहसनों से जनता का मनोरंजन हुआ। किन्तु लीलाओं और पारसी खेलों के प्रभावान्तर्गत हिन्दी में उच्च कोटि के नाट्य-साहित्य की अधिक सृष्टि न हो सकी।

भाषा के सम्बन्ध में इतना कहना ही काफ़ी होगा कि उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में हिन्दी भाषा में व्याकरण के नियमों का उल्लंघन और उसका अस्थिर रूप पाया जाता है। हिन्दी साहित्य में आलोच्य काल का महत्त्व विषयों की अनेकरूपता और नए-नए विचारों और भावों की उद्भावना में है, न कि भाषा के लालित्य और सुघड़ स्वरूप में।

●

७. कविता

अब तक हम गद्य की चर्चा करते आ रहे थे, क्योंकि नवयुग का साहित्य गद्य का साहित्य है। लेकिन हमारी साहित्यिक सम्पत्ति कविता ही थी। जहाँ तक कविता से सम्बन्ध है, अभी तक हमारे कवियों का ध्यान यथार्थ जगत् की ओर न होकर भाव-जगत् की ओर ही अधिक था। वे परिपाटीविहित और रूढ़िग्रस्त राधा-कृष्ण की लीलाओं और नायक-नायिकाओं के कल्पित ऐश्वर्य और विलास में डूबे हुए थे। इन भावों की अभिव्यक्ति के लिए कवियों के पास उपयुक्त साधन थे और कविता के आदर्शों में अभी परिवर्तन नहीं हुआ था। परन्तु इस काल में पश्चिमी दुनिया के सम्पर्क में आने से हमारे कवियों का ध्यान प्राचीन काव्य-परम्परा के निर्वाह के अतिरिक्त नवीन भावों और विचारों और अपने चारों तरफ़ की दुनिया की ओर भी जाने लगा। कई शताब्दियों बाद पहली बार हिन्दी-कवि अपनी पुरानी सम्पदा छोड़कर आगे बढ़ा। यहीं से हिन्दी कविता में आधुनिक युग की विचारधारा का सूत्रपात होता है, और इसी में हमारे कवियों का महत्त्व है।

पश्चिमी दुनिया के सम्बन्ध से भारतीय राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में जो परिवर्तन हुए उनका दिग्दर्शन कराया जा चुका है (दूसरा अध्याय)। उन्नीसवीं शताब्दी पुर्वार्द्ध में बङ्गाल इन आन्दोलनों को जन्म दे चुका था। लॉर्ड बैंटिक के समय में सामाजिक और धार्मिक आन्दोलनों ने और भी प्रगति की। आलोच्य काल में हिन्दी-प्रदेश भी नवीन विचारों से आन्दोलित हो उठा। चारों तरफ़ सुधार और प्रगति की आवाज़ सुनाई देने लगी। उसकी प्रतिध्वनि हमें हिन्दी साहित्य में मिलती है। ये आन्दोलन आपस में एक दूसरे से इतने गुँथे हुए हैं कि उनके बीच कोई विभाजन रेखा खींचना दुस्तर कार्य है। परन्तु इतना निश्चित है कि पाश्चात्य विचारधारा से प्रभावित होने और अँगरेज़ी साहित्य के फलस्वरूप शिक्षित और सुहृद समाज को ब्रजभाषा साहित्य का (शृङ्गारपूर्ण) आदर्श खटकने लगा था। पण्डित यज्ञदत्त तिवारी का कहना है :

'विषयारत भारत की कुदशा न निहारत रोज बरोज ही की।
कहां विक्रम बिक्रम के समै सों कथामात्र है भोज के भोज ही की।
रजधानी बिलानी सुऐश मैं सारी कहां वह औज कनौज ही की।

भवसिन्धु गोबिन्द तू पार भयो जौं हनोज है मौज मनोज ही की ।।२८'[1]

पण्डित मदनमोहन मालवीय 'मकरन्दलाञ्छन' कहते हैं :

'भारत चारहुँ ओर दुखी दुख भोगत बीतिगे वर्ष हजारन ।
ध्यान रतीक दियो चहिये दुख कौन उपाय सों होय निवारन ।
सो सब दूरि रहै मकरन्द समैं इन बातन में किहि कारन ।
होय सो होय इहां नहि भूलिनो 'राधिका रानी' कदम्ब की डारन ।। ३'[2]

इस नवयुगीन आन्दोलन के प्रवर्त्तन में उन लोगों का हाथ था जिन्होंने अँगरेज़ी शिक्षा पाई तो थी, परन्तु जिन्हें भारतीयता और भारत की दुरवस्था का ध्यान सदैव बना रहता था। उन्होंने देखा कि समाज में रूढ़िप्रिय लोगों, पाश्चात्य सभ्यता के गुलामों, पुलीस और अदालती लोगों की लूट-खसोट, देश के स्वार्थी अमीरों, सर्वत्र धार्मिक मिथ्याचार, अनाचार, छल और कपट, भारत की निर्धनता आदि से देश की सामूहिक भलाई की कोई आशा नहीं थी। उनमें विचार-स्वातन्त्र्य था और वे भारत की स्वाधीनता के स्वप्न देखने लगे थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र एक ऐसे ही आदर्श देश-भक्त थे। उन्होंने देशभक्ति, लोकहित, समाज-सुधार, मातृभाषोद्धार, स्वतन्त्रता आदि की वाणी सुनाई। अन्य कवियों ने उनके स्वर में स्वर मिलाया। बालमुकुन्द गुप्त पराधीन भारत के कवियों को कवि और कविता को कविता कहने के लिए तैयार नहीं थे। उनका कहना है :

'भारत में अब कवि भी नहीं हैं कविता भी नहीं है। कारण यह कि कविता देश और जाति की स्वाधीनता से सम्बन्ध रखती है। जब यह देश, देश था और यहाँ के लोग स्वाधीन थे, तब यहाँ कविता भी होती थी। उस समय की जो कुछ बची-खुची कविता अब तक मिलती है वह आदर की वस्तु है और उसका आदर होता है। कविता के लिए अपने देश की बातें, अपने देश के भाव और अपने मन की मौज दरकार है। पराधीनों में यह सब बातें कहाँ ? फिर हमारी कविता क्या और उसका गुरुत्व क्या ? इससे इसे तुकबन्दी ही कहना ठीक है। पराधीन लोगों की तुकबन्दी में कुछ तो अपने दुःख का रोना होता है और कुछ अपनी गिरी दशा पर पराई हँसी आती है....'

आर्य समाज आन्दोलन के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द ने भी समय की गति पहिचान कर भारतीय जागरण की शङ्ख-ध्वनि की। आलोच्य-कालीन हिन्दी

---

[1]साहबप्रसाद सिंह (संपा०): 'काव्य कला', प्रथम किरण (१८८५). पृ० १००

[2]वही, पृ० ४४

साहित्य को नवीन आन्दोलनों के कारण विविध विषय-सम्बन्धी सामग्री और उपादान मिले। आन्दोलन के फलस्वरूप उत्पन्न वातावरण में पालित-पोषित होकर अनेक ऐसे व्यक्तियों ने भी प्रगति का स्वर उच्च किया जिन्होंने न तो अँगरेज़ी शिक्षा प्राप्त की थी और न जो पाश्चात्य विचार-धारा के सम्पर्क में आए थे। वास्तव में प्रत्येक आन्दोलन का जन्म शिक्षित लोगों के सीमित समुदाय में हुआ, किन्तु धीरे-धीरे उन्होंने जन-आन्दोलनों का रूप ग्रहण कर लिया। व्यक्तिगत रूप से संगठित अनेक छोटी-छोटी सभा-संस्थाओं के अतिरिक्त सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में आर्य समाज और राजनीतिक क्षेत्र में काँग्रेस आन्दोलनों ने शीघ्र ही व्यापक रूप धारण कर देश के मानसिक जीवन को प्रभावित करना शुरू कर दिया। प्रारम्भ में काँग्रेस भी धार्मिक और सामाजिक सुधारों में दिलचस्पी लेती थी, किन्तु आगे चलकर उसका क्षेत्र राज-नीति तक ही सीमित रह गया। आर्य समाज आन्दोलन में भी देश-प्रेम और भक्ति के बीज निहित थे। उसके अनुगामियों ने सहर्ष काँग्रेस के राष्ट्रीय आन्दोलन में पूर्ण भाग लिया।

देश और समाज में जो परिवर्तन हो रहे थे उनसे साहित्य अलग न रह सका। उपन्यास और नाट्य-साहित्य की भाँति कविता ने भी नवीन आन्दोलनों का अनुसरण किया। ऐसी रचनाओं में प्रचारात्मकता और सामयिकता आ जाना अनिवार्य था। साथ ही अँगरेज़ी साहित्य के अध्ययन के फलस्वरूप हिन्दी साहित्य की 'स्पिरिट' बदलने लगी और विषयों की अनेकरूपता की सृष्टि होने लगी थी। श्रीधर पाठक जैसे कवियों ने अँगरेज़ी काव्यगत भाव और शैली की महत्ता स्वीकार कर हिन्दी में भी उसी कोटि की रचनाएँ कर मनस्तुष्टि करनी चाही। हमारे साहित्यिकों का प्रधान कार्य जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जनसमाज को शिक्षित कर प्रगति की ओर ले जाना था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने चित्तौड़ आदि इतिहास-प्रसिद्ध विषयों तथा अन्य अनेक नए-नए विषयों पर काव्य-रचना कर हिन्दी कविता में नवीन युग उपस्थित कर दिया। पुरानी लीक छोड़ कर कविता ने अपना नया रास्ता बनाया और वह गति-शील हुई। तत्कालीन परिस्थिति के साथ भावों और विचार का सामञ्जस्य हुए बिना समाज के हितसाधन की कोई आशा नहीं थी।

हिन्दी काव्य के इस नवीन रूप के साथ-साथ ब्रजभाषा और उसके साहित्य का प्रचार बराबर बना रहा, यद्यपि उनका आसन हिल चुका था। स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा हिन्दी के प्रायः अन्य सभी बड़े-बड़े कवि काव्य की पुरानी परम्परा के अनुयायी बने रहे। भारतेन्दु पक्के वैष्णव थे और पुराने वातावरण में पले थे। उनके चारों ओर का समाज अवनति और पतन के कर्दम में लिप्त पड़ा था। अतएव भूतकाल का बन्धन एकदम टूटने वाला नहीं था। परन्तु इतने

पर भी प्रगतिशील पिता के पुत्र होने के कारण उन्होंने कविता को नई विचार-धारा की ओर प्रवृत्त किया। वास्तव में भारतेन्दु प्राचीन और नवीन के बीच एक सुनहरी कड़ी हैं। उनके नाटकों में देश की अधोगति और उसके प्राचीन गौरव की मार्मिक व्यञ्जना हुई है। उन्होंने सामाजिक, धार्मिक आदि विषयों पर अनेक कविताओं की रचना कर नवीन चेतना का परिचय दिया। दुर्भाग्यवश १८८५ में इंडियन नैशनल कांग्रेस की स्थापना के समय वे अपने लगाए हुए राष्ट्रीयता के वृक्ष को पुष्पित-पल्लवित होते न देख सके। काँग्रेस की स्थापना के बाद देश की मनोवृत्ति में निश्चित रूप से परिवर्तन हुआ है। १८६१ में भारतेन्दु ने 'स्वर्गवासी श्री अलवरत वर्णन अन्तर्लापिका' शीर्षक नए विषय की कविता लिखी। अतः इस कविता को हम हिन्दी काव्य के नवीन रूप की अग्रगामिनी और १८६१ को आधुनिक हिन्दी काव्य का वपन-काल मान सकते हैं। उस समय भारतेन्दु ग्यारह वर्ष के थे। तदनन्तर उन्होंने अन्य अनेक रचनाएँ प्रकाशित कीं।[1]

कविता की नई धारा में मोटे तौर पर कुछ खास-खास बातें पाई जाती हैं जिनका जन्म नवोदित आन्दोलनों और जीवन की नई परिस्थितियों के आविर्भाव के कारण हुआ था। उनसे प्रकट होता है कि किस प्रकार हिन्दी कवि नवीन वातावरण से प्रभावित होकर गतिशील होवे के लिए छटपटा उठे थे और प्राचीन साहित्य के निर्धारित मार्ग से अलग हट रहे थे। उनकी रचनाओं में सब प्रकार से पीड़ित भारतीय जनता की पुकार पाई जाती है। देश-भक्ति और सामाजिक सुधार का स्वर सबसे ऊँचा था।

आलोच्य-कालीन नवीन कविता पर विचार करते समय सबसे पहले १८५७ के विद्रोह की ओर ध्यान जाना बहुत-कुछ स्वाभाविक है। देश के राजनीतिक क्षेत्र में वह एक महान् ऐतिहासिक घटना थी। उसने देश की राजनीतिक कायापलट ही नहीं की, वरन् उसके फलस्वरूप जीवन की परिवर्तित परिस्थितियों के प्रभावान्तर्गत हिन्दी प्रदेश में नवीन साहित्यिक चेतना का भी जन्म हुआ। इस नवीन चेतना का नेतृत्व समाज के एक विशेष वर्ग के हाथ में था। विद्रोह के कारणों पर भारतीय और विदेशी विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से विचार किया है। किन्तु वास्तव में विद्रोह का कोई एक कारण नहीं था। उसके पीछे इँगलैण्ड और भारत के आर्थिक, राज-नीतिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध का लगभग एक शताब्दी का इतिहास है (दे०, अध्याय दूसरा)। देशी राज्यों के प्रति सरकारी नीति और अन्त में अवध की समस्या के फल-स्वरूप अन्तिम विस्फोट हुआ। विद्रोह की आग भड़क उठी और जगह-जगह अँगरेज़ों

---

१. दे०, नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'भारतेन्दु-ग्रन्थावली' (१९३४), दूसरा खण्ड।

की शक्ति उखाड़ फेंकने की चेष्टाएँ हुईं। शुरू में विद्रोहियों को कुछ सफलताएँ मिलीं भी, किन्तु अँगरेज़ों की संगठित सैनिक शक्ति और वैज्ञानिक साधनों के सामने वे अधिक दिन तक न ठहर सके।

विद्रोह का हिन्दी प्रदेश से घनिष्ठ सम्बन्ध है। भारतेन्तु हरिश्चन्द्र तो उसकी छाया में पल कर ही बड़े हुए थे। इसलिए यह देखना आवश्यक है कि इस महान् ऐतिहासिक घटना ने साधारण हिन्दी-भाषियों और हिन्दी कवियों तथा लेखकों को कहाँ तक और किस प्रकार प्रभावित किया। भारतेन्दु ने विद्रोह के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा। एक स्थान पर उन्होंने थोड़ा-सा संकेत दिया है जिसका उल्लेख आगे किया जायगा। उनका यह मौन अश्चर्यजनक है। किन्तु इसका उत्तर स्वयं उनके कथन में ही मिल जायगा। भारतेन्दु के बाद भी केवल इने-गिने कवियों ने ही विद्रोह के सम्बन्ध में लिखा है। उन्होंने भी जो कुछ लिखा है वह विद्रोह जैसी महान् ऐतिहासिक घटना के देखते हुए बहुत कम है।

सर्वप्रथम हमें सेवक कवि कृत 'वाग्विलास' में विद्रोह-सम्बन्धी उल्लेख मिलता है। सेवक की रचना का निर्माण-काल अज्ञात है। किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इस ग्रन्थ की रचना विद्रोह के बाद ही हुई थी। कई स्थानों पर विक्टोरिया का नाम मिलता है। अपने आश्रयदाता राजा हरिशंकर सिंह और गौरीशंकर सिंह के सम्बन्ध में लिखते हुए कवि का कहना है :

'गुनगन के हरिया उभे दान मान के रूप।
षैरषाह अँगरेज़ के मन मन सोहित रूप।।
वोनइस सै तेरा प्रगट सम्मत हो छिति कंत।
बलवा में हाकिमन की करी सहाय अनन्त।।
हाकिमान को गाढ़ लष मदत दई बहु भाँति।
वागिन को मारत भये लै क्रिपान रिसमाति।।
परसन भे हित हित समुझि जब भये गुरंड अडोल।
कइय पारचे की षिलति मिलिक दई अनमोल।।'

हरिशंकर सिंह ने बलवाइयों से डट कर मोर्चा लिया। सेवक ने उनकी इस वीरता का वर्णन किया है। इसलिए :

'सुनतहि या विधि को समर षुसी भये अंगरेज।
षिलत सारटीफिकट हू दीन्ह्यौ सहित मजेज।।

तत्पश्चात् कवि ने दो छन्दों में खिलअ़त का वर्णन हिन्दी की परम्पराविहित शैली में किया है। कवि सेवक के उल्लेख से इस ऐतिहासिक तथ्य पर प्रकाश पड़ता है कि अनेक छोटे-छोटे राजाओं और ज़मीदारों ने जिन्हें अँगरेज़ी सत्ता से लाभ पहुँचा था

अँगरेज़ों को सहायता दी थी ।

एक अन्य प्रसिद्ध कवि रसराज बाबू बिहारी सिंह ने विद्रोह के बाद अँगरेज़ी राज्य की नियामतों पर ध्यान दौड़ाते हुए कहा है :

'ग़दर ग़नीम गुबार उठ्यो संतावन में सिगरे जग जानी ।
केते अनीति अनीति कियो सब हिंद प्रजा हिय में भय मानी ।।
त्योंही बिहारी लियो कर सासन मेटी प्रजा दुख बेगि सयानी ।
जेहिं ऐसो विचार अशीसें सबै चिरजीवो सदा विक्टोरिया रानी ।।'[1]

इस छन्द में कवि ने इस तथ्य की ओर संकेत अवश्य दिया है कि कम्पनी के राज्यान्तर्गत प्रजा पीड़ित थी, किन्तु ग़दर के सम्बन्ध में उन्होंने अपना रुख हमें नहीं बताया । प्रसिद्ध कवि प्रतापनारायण मिश्र का रुख अधिक स्पष्ट है :

'सन सत्तावन माहिं जबहिं कछु सेना बिगरी ।
तब राजा दिशि ही रही सुदृढ़ ह्वै परजा सिगरी ।।
दुष्ट समुझि अपने भाइन कहं साथ न दीन्हो ।
भोजन बिन विद्रोहिन कर दल निरबल कीन्हो ।।
ठौर ठौर निज घर लुटवाये अरु फुंकवाये ।
प्रान खोय बहु ब्रिटिश वर्ग के प्रान बचाये ।।'[2]

इसी प्रकार उपाध्याय बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने भी निम्नलिखित रूप में अपने भाव प्रकट किए हैं :

'दियो त्रस्त करि पूरब डरे मा़नवन के मन
समझ्यो जिन ये चाहत नासन जाति, धर्म, धन ।।
देसी मूढ़ सिपाह कछुक लै कुटिल प्रजा सँग ।
कियो अमित उत्पात, रच्यो निज नासन को ढँग ।।
बढ़्यो देस में दुख, बनि गई प्रजा अति कातर ।
फेर्‌यो तब तुम दया दीठ भारत के ऊपर ।।'[3]

इन पंक्तियों के अतिरिक्त उन्नीसवीं शताब्दी उतरार्द्ध की हिन्दी-कविता में विद्रोह के बारे में और अभी तक कुछ नहीं मिला ।

इससे यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के बहुत कम हिन्दी कवियों ने विद्रोह के सम्बन्ध में लिखा है । जिन्होंने कुछ लिखा भी है वे विद्रोह को कुछ बहके हुए भारतीयों की नाजायज़ हरकत बताकर चुप हो जाते हैं । उन्होंने

---

१. 'भारतेश्वरी भूषण' (१८८७), पृ० २

२. 'ब्रैडला स्वागत' (१८८६), पृ० १०

३. 'हार्दिक हर्षादर्श' (१६००), पृ० ११

उसे भयावह दृष्टि से देखा है। नाटककार भी इस घटना के प्रति उदासीन रहे। अन्य साहित्यिक रूपों में विद्रोह के सम्बन्ध में किसी प्रकार का निर्देश नहीं मिलता। केवल राधाकृष्णदास ने अपने उपन्यास में एक स्थान पर बलवे का ज़िक्र किया है।

किन्तु इतिहास-प्रसिद्ध साहित्यिकों को छोड़कर साधारण और अज्ञात कवियों तथा जनसमुदाय की तरफ़ आने से हमें ज्ञात होता है कि उन्होंने विद्रोह के प्रति अपनी भावनाएँ व्यक्त करने में सङ्कोच से काम नहीं लिया। उनमें विद्रोहियों के प्रति सद्-भावनाएँ मिलती हैं, शौर्यपूर्ण कृत्यों का उल्लेख मिलता है और कभी-कभी तो उनका निजी हार्दिक उल्लास और उत्साह घटनाओं के साथ गुँथा हुआ मिलता है। कला की दृष्टि से भी उनकी रचनाएँ हीन कोटि की नहीं कही जा सकतीं। भाषा और भावों की पृष्ठभूमि में सुन्दर काव्य की जन्मदात्री सच्ची अनुभूति उनमें है। ऊपर उद्धृत पंक्तियों में प्रकट भावनाओं से भिन्न भावनाएँ हमें इन रचनाओं में मिलती हैं। वास्तव में अवध, मेरठ आदि प्रदेशों में यदि प्रयत्न किया जाय तो सम्भव है ऐसी और भी रचनाओं का संग्रह किया जा सके।

बैसवाड़े में शंकरपुर के राना बेनीमाधव सिंह ने डट कर अँगरेज़ों से मुक़ाबला किया था। वैसे भी अवध में विद्रोह बड़े ज़ोरों से हुआ क्योंकि यह वह प्रदेश था जिसे अँगरेज़ों ने बहुत दिनों तक और काफ़ी चूँस लिया था, और थोड़े ही दिन पहले जहाँ ताल्लुक़दारों की रियासतें छीन ली गई थीं। इसी प्रदेश के एक दुलारे नामक कवि का राना के सम्बन्ध में एक छन्द मिलता है। दुलारे कवि संगीत के विशेषज्ञ थे और विद्रोह के समय विद्यमान थे। उनका छन्द इस प्रकार है:

'अवध मां राना है मरदाना
पहिल लड़ाई भै बक्सर मां सेमरी के मैदाना।
उहाँ का कूच भयो पुरवा को तबै लाट घबराना
नक्की मिले मानसिंह मिलिगे मिले सुदर्शन काना
क्षत्रीवंश एक ना मिलिहै करिहै कौन बहाना
भाय भतीज सबै बुलवायो हमरी लेउ सलाना
तुम तो जाय अँगरेजन मिलिहौ हम हू का भगवाना
शंकरपुर के बड़े लड़ैया घोढ़ा चढ़े मनमाना
कहै दुलारे सुनि पिय प्यारे उत्तर किहो पयाना।'

रायबरेली ज़िले के हमीर गाँव के निवासी बजरंग ब्रह्मभट्ट भी विद्रोह के समय उपस्थित थे। उनका भी एक छन्द राना के सम्बन्ध में मिलता है:

'हिम्मत को हाकिम हजारन में देखि आयो,
खेदिकै हटायो अँगरेज हू सकाना है।

जाको तेज तीखन तपत महिमण्डल में,
हटिगे उलूक से न लागत ठिकाना है ।
कहै बजरङ्ग बैसवंश अवतंश भयो,
कंपनी बिलाइत सकल बिललाना है ।
नेक न डेराना छीन लीन्ह्यों तोपखाना,
वीर बाँधे वीर बाना बैस राना बिरम्दाना है ।।'

एक और कवि, छत्रपति सिंह, रायबरेली ज़िले में मनिहारगढ़ी के रहने वाले थे और सम्भवतः राना बेनीमाधव सिंह के भतीजे थे। ग़दर के बाद इसीलिए इनका इलाक़ा ज़ब्त हो गया बतलाते हैं। इनका कहना है :

'जीवत ही मरिते नृपति छिति-मंडल के,
कोऊ न करी है नाम जस मरदाने की ।
साजि-साजि डाली सबै माली से मिले हैं जाय,
हिम्मत को हारि धरि दई बीरबाने को ।
सुनि कै अवाई अँगरेज़ की अनी को दिल,
लवा से लुकाने मानो निरखि सयाने को ।
'छत्रपती' दीपन दिसानन मे हेरि हार्‌यौ,
जीवन बिलोक्यो वेनीमाधो बक्स राने को ।।'

ज्वालाराय भी विद्रोह के समय उपस्थित थे और उन्होंने भी राना बेनीमाधव बक्स सिंह पर कुछ पद्य लिखे हैं। एक छन्द में उन्होंने कहा है :

'चंडिका के चेले बैस लड़त है अकेले फौजें,
आया लीना घेरि गोला खूबही बजायो है ।
मारे जरनैल और कंडैनल को कैद कीन्ह्यो,
मारे कपतान गोरा भेंट ही चढ़ायो है ।
राजन में राजा महाराजा बेनी माधो बक्स,
लड़ी है लड़ाई अँगरेज़ चढ़ि आयो है ।
कहत कवि ज्वालाराय राजन को काम कीन्ह्यो,
बिना अन्नपानी गोला खूब ही बजायो है ।।

एक दूसरे छन्द में उसका कथन है :

'मारा करनाटकी तूरा कासमीर चाटक कोट,
कांगड़े को हाटक लौ बाँधी जाय सत्ता है ।
दिल्ली अरु बिल्ली करौली बादसाहिन में,
थरथरौवा पर्‌यो सहर काँपत कलकत्ता है ।

कट्टर और कलट्टर हजूर के रिसालदार,
रंजक उड़ानी कहुँ लागत न पत्ता है।
साचो वीरबाना सबै देसन भय माना,
संग लिहे तोपखाना बैस राना अलबत्ता है।'

इन कुछ अज्ञात कवियों के छंदों के अतिरिक्त हमें कुछ लोक-प्रचलित गीतों के उदाहरण भी मिलते हैं जिनसे विद्रोह के प्रति साधारण जनता के दृष्टिकोण का परिचय प्राप्त होता है और जिसे व्यक्त करने में उसने संकोच से काम नहीं लिया। कुछ उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं।

सहारनपुर की एक गूजर स्त्री अपने पति के भोलेपन को लक्षित करते हुए कहती है :

'लोगों ने लूटे शाल दुशाले, मेरे प्यारे ने लूटे रूमाल।
मेरठ का सदर बाज़ार है, मेरे सैयाँ लूट न जानैं।
लोगों ने लूटे प्याली कटोरे, मेरे प्यारे ने लूटे गिलास।
मेरठ का....,मेरे सैयाँ....
लोगों ने लूटे गोले छोहारे, मेरे प्यारे ने लूटे बदाम।
मेरठ का....,मेरे सैंया....
लोगों ने लूटे मुहर अशर्फ़ी, मेरे प्यारे ने लूटे छदाम।
मेरठ का....,मेरे सैया....'

उनानी, ज़िला फ़ैज़ाबाद का एक लोक कवि सम्भवतः राना बेनी माधो बक्स सिंह की ओर संकेत करता हुआ कहता है :

'राना बहादुर सिपाही अवध में, धूम मचाई मोरे राम रे।
लिख लिख चिठिया, लाट ने भेजी, आन मिलो, राना भाई रे।
जंगी ख़िलत लंदन से मंगा दूँ, अवध में सूबा बनाई रे।
जवाब सवाल लिखा राना ने, हमसे न करो चतुराई रे।
जब तक प्रान रहैं तन भीतर, तुम कन खोद बहाई रे।
ज़मीदार सब मिल गये गुलखान, मिल मिल के कपाई रे।
एक तो बिन सब कट कट जाई, दूसरे गढ़ी खुदवाई रे!'

सँडीले का एक लोकगीत है :

"राजा गुलाबसिंह, रहिया तोरी हेरूँ ; एक बार दरस दिखावा रे।
अपनी गढ़ी से यह बोले गुलाबसिंह ; सुन रे साहब मेरी बात रे।
पैदल भी मारे, सवार भी मारे, मारी फौज बेहिसाब रे।"
"बाँके गुलाबसिंह, रहिया तोरी हेरूँ ; एक बार दरस दिखावा रे।

"पहली लड़ाई लखमनागढ़ जीते : दूसरी लड़ाई रहीमाबाद रे।
तीसरी लड़ाई सँदीलवा में जीते : जामू में कीना मुकाम रे।
"राजा गुलाबसिंह, रहिया तेरी हेरूँ ; एक बार दरस दिखावा रे।"

कोटारा, ज़िला इटावा में 'बुन्दले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी, खूब लड़ी मरदानी वह तो झाँसी वाली रानी थी' का लोक प्रचलित रूप इस प्रकार मिला है :

'खूब लड़ी मरदानी; अरे जाँसी वाली रानी !
बुरजन बुरजन तोपें लगाई दई, गोला चलाए आस्मानी।
अरे झाँसी वाली रानी, खूब लड़ी मरदानी।
सगरे सिपाहियाँ को पेड़ा जलेबी, आपने चबाई गुड़धानी।
अरे झाँसी वाली रानी, खूब लड़ी मरदानी।
छोड़ मोर्चा, लश्कर को भागी ; ढूंढेहू मिलै नहिं पानी।
अरे झाँसी वाली रानी, खूब लड़ी मरदानी।'

इसी प्रकार कुछ और उदाहरण मिल जाते हैं, जैसे, 'चारों तरफ़ से बांध मोर्चा, लड़े खूब जंगी गोरा' आदि। अब भी कभी-कभी ऐसे गीतों की भनक कानों में पड़ जाती है। इन उदाहरणों से कुछ बातें स्पष्ट रूप से हमारे सामने आती हैं। कवियों के दो वर्ग थे : राजाओं और ज़मींदारों व ताल्लुकेदारों के आश्रित रहने वाले कवि, और स्वतन्त्र रूप से साहित्यिक रचना करने वाले कवि। राजाओं और ज़मीदारों व ताल्लुक़ेदारों के आश्रित रहने वाले कवियों में भी दो तरह के कवि थे : जिनके आश्रयदाताओं ने अँगरेज़ों का पक्ष लिया और जिनके आश्रयदाता अँगरेज़ों के विपक्ष में थे। दोनों ने अपने-अपने आश्रयदाताओं की स्थिति के अनुसार विद्रोह का उल्लेख किया है। स्वतन्त्र रूप से साहित्यिक रचना करने वाले कवियों ने निश्चित रूप से विद्रोह की निन्दा की या वे चुप रहे। इन कवियों का सम्बन्ध अँगरेज़ी राज्य के अन्तर्गत नवजात मध्यम वर्ग से था। लोकगीतों में दोनों पक्षों में से किसी एक पक्ष के शौर्य-गुण को स्थान मिला है।

यहाँ पर यह याद रखना चाहिए कि हिन्दी के इतिहास-प्रसिद्ध कवि और लेखक ख़ुशामदी नहीं थे। उन्होंने अँगरेज़ी राज्य की अनेक अनीतिपूर्ण बातों—प्रधानतः आर्थिक शोषण—का विरोध किया और प्राचीन भारतीय गौरव का गान गाकर स्वतन्त्रता की आवाज़ बुलन्द की—यद्यपि उनका विरोध His Majesty's Opposition वाला विरोध था और स्वतन्त्रता से उनका तात्पर्य ग्रेट ब्रिटेन के साथ राजनीतिक सम्बन्ध-विच्छेद से नहीं था। वे चाहते थे कि भारत का अँगरेज सम्राट् उन्हें उसी दृष्टि से देखे, उसी प्रकार भारतीय प्रजा के साथ व्यवहार करे, जिस प्रकार

भारतीय सम्राट् किया करते थे, अथवा जैसा व्यवहार वह स्वयं ब्रिटेन-निवासियों के साथ करता था। इसी में उनकी स्वतन्त्रता की भावना निहित थी। सामाजिक एवं आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना उनका मुख्य ध्येय था। भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्णदास, बालमुकुन्द गुप्त, बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', श्रीधर पाठक आदि ऐसे प्रमुख कवि और लेखक थे जो भारत की राजनीतिक घटनाओं और प्रगति को बड़ी उत्कण्ठा के साथ देखा और परखा करते थे। किन्तु वे सन् ५७ की घटना के बारे में चुप हैं। कहने का यह तात्पर्य नहीं कि वे विद्रोहियों के गीत गाते या अँगरेज़ों का यश बखानते। कम-से-कम उन्हें एक ऐसी घटना की, जिसने देश की राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन उपस्थित करने के साथ जनसाधारण को प्रभावित किया, साहित्य में किसी-न-किसी रूप में स्थान देना था। किन्तु ऊपर की पंक्तियों के अतिरिक्त उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के प्रसिद्ध कवियों और लेखकों द्वारा लिखित इस घटना के विषय में अभी तक और कुछ नहीं मिलता।

वास्तव में हिन्दी के प्रसिद्ध कवियों और लेखकों की इस उदासीनता के कई कारण थे। पहला कारण तो यह था कि अँगरेज़ों की संगठित सैनिक शक्ति का देश में ऐसा आतंक छा गया था कि फिर किसी को विद्रोह करने का तो क्या विद्रोह के बारे में कुछ कहने-सुनने का साहस न रह गया था। इस राजनीतिक भय की ओर ही संकेत करते हुए स्वयं भारतेन्दु जी ने कहा है :

'कठिन सिपाही-द्रोह-अनल जा जल-बल नासी।
जिन भय सिर न हिलाय सकत कहुँ भारतवासी।'

अथवा, उनका कहना है :

'भाजे से फिरत शत्रु इत उत दौरि दौरि;
दबत जमानी जाको जोहत जलूस है।
ब्रह्म अस्त्र ऐसी तोपैं तोपैं एकै बार फौज,
विमल बन्दूक गोली दारू कारतूस है।
ऐसो कौन जग में विलोकि सकै जौन इन्हैं,
देखि बल बैरी-दल रहत मसूस है।
प्रबल प्रताप भारतेश्वरी तिहारैं क्रोध,
ज्वाल काल आगे मोम रोम रूस फूस है।'

अथवा,

'गलै दाल नहिं शत्रु की तुव सनमुख गुनधाम।'

दूसरे, उन्नीसवीं शताब्दी के आर्थिक सङ्गठन का अध्ययन करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अँगरेज़ी राज्य की स्थापना से एक मध्य वर्ग उन्नत हुआ था

श्रौर जो प्रधानत: हिन्दुश्रों में ही था। श्रँगरेज़ी राज्य की व्यवस्था से समाज के उच्च वर्ग श्रौर मध्य वर्ग की उच्च श्रेणी को अत्यन्त लाभ पहुँचा था। मध्य वर्ग की निम्न श्रेणी उसी समय बेकारी से पीड़ित हो चुकी थी। इसके अतिरिक्त व्यापारिक वर्ग के लिए तो श्रँगरेज़ी राज्य नियामत था। उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के अधिकांश हिन्दी कवि श्रौर लेखक मध्य वर्ग या व्यापारिक वर्ग के थे। वे किसी ऐसी बात का समर्थन करना नहीं चाहते थे जिससे उन्हें आर्थिक हानि उठानी पड़े, क्योंकि इन वर्गों के लिए तो शान्ति ही सब कुछ थी। पिछले सौ-डेढ़ सौ वर्षों की निरन्तर राजनीतिक कलह से व्यापारिक-वर्ग तो वैसे भी काफ़ी क्षति उठा चुका था। अब थोड़ी शान्ति श्रौर धनोपार्जन का अवसर पाकर वह फिर से कोई विनाशकारी एवं स्वार्थ के लिए घातक आन्दोलन देखना नहीं चाहता था। नवजात मध्य वर्ग का तो अस्तित्व ही श्रँगरेज़ी राज्य पर स्थित था। फिर भला इस वर्ग के कवि क्यों श्रँगरेज़ों के खिलाफ़ आवाज़ उठाते या विद्रोह को अच्छी आँखों देखते। राधाकृष्णदास ने इस आर्थिक आधार की श्रोर इस प्रकार संकेत किया है :

> 'बलवे में बेबात लड़कर सर्कार को अपनी तरफ़ से ऐसा शंकित किया कि चटपट सब शस्त्र छीन लेने की आज्ञा हो गई। अब अपने बचाव के लिए भी शस्त्र न रह गया, टैक्स लगाया कि जिससे सारी प्रजा दु:खित हो रही है। भला ऐसे मूर्खों ही को छोड़ दें तो किससे लें।'

इसमें टैक्स की बात ध्यान देने योग्य है। राधाकृष्णदास के इसी कथन में तीसरा कारण भी मिल जाता है। उनका यह कथन उस समय का है जब कि एक बार हिन्दू-मुस्लिम दंगे की आशंका थी श्रौर विद्रोह के कारण हथियार छिन जाने से हिन्दू निस्सहायावस्था में थे—यद्यपि हथियार मुसलमानों के भी छिन गए थे। किन्तु हिन्दू अपने बचाव के लिए हथियार चाहते थे जिनके न होने से ही राधाकृष्णदास ने अपनी झुँझलाहट प्रदर्शित की है। वास्तव में बात यह थी कि विद्रोह में मुसलमानों ने प्रमुख रूप से भाग लिया था। सर वैलेन्टाइन का यह कथन बहुत-कुछ सत्य है कि बलवे के पीछे दिमाग़ हिन्दुश्रों का था श्रौर काम मुसलमानों ने किया था। मुसलमानों का बिगड़ना ठीक भी था। राजनीतिक एवं आर्थिक दृष्टि से मुसलमानों को ही श्रँगरेज़ी राज्य से सबसे अधिक नुकसान हुश्रा था। उनका समस्त सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन छिन्न-भिन्न हो गया था। स्वयं वाहबी आन्दोलन के मूल में राजनीतिक श्रौर आर्थित ह्रास दो प्रधान कारण थे। वाहबियों ने विद्रोह में सबसे अधिक भाग लिया था जिसके फलस्वरूप श्रँगरेज़ों ने उनका इतने ज़ोरों से दमन किया कि १८६० में एक भी वाहबी का अस्तित्व न रह गया था। अस्तु, इतना निश्चित है कि विद्रोह में मुसलमानों ने भी प्रमुख भाग लिया था। विद्रोह के बहुत दिनों बाद तक

इसीलिए मुसलमान अँगरेज़ सरकार के क्रोध-भाजन बने रहे—यहाँ तक कि उन्नीसवीं शताब्दी में बढ़ती हुई शक्ति देखकर १९०६ में मुस्लिम लीग की स्थापना के माध्यम द्वारा अँगरेज़ मुसलमानों से खुश हुए। इसके अतिरिक्त इतना भी निश्चित है कि हिन्दू पुनरुत्थान काल का प्रथम चरण ऐतिहासिक और राजनीतिक दृष्टि से कुछ मुस्लिम विरोधी रुख लिए हुए था। मुसलमानों के धार्मिक विद्वेष और अत्याचार को हिन्दू भूले नहीं थे। बनारस और मथुरा की मस्जिदें देखकर हिन्दू आह भरते थे। अँगरेज़ी-शिक्षित हिन्दू अँगरेज़ी राज्य को भारतीय प्रजातंत्र का रूप समझ कर भारत और ग्रेट ब्रिटेन के समस्त हित-साधनों में सामंजस्य स्थापित करने लगे थे। इसलिए हिन्दुओं का एक विशेष दृष्टिकोण था—अँगरेज़ों से राजनीतिक सम्बन्ध रखते हुए मुस्लिम-विरोधी, और उस समय जब कि अँगरेज़ भी मुसलमानों से नाराज़ थे। यह दृष्टिकोण भारतेन्दु तथा अन्य सभी बड़े-बड़े कवियों और लेखकों में मिलता है। 'आनन्द मठ' वाली भावना सर्वत्र व्याप्त थी। यह विरोध स्वयं इस्लाम धर्म या पैग़म्बरों से नहीं था। इन सब कारणों से मध्यम वर्ग की राजनीतिक बुद्धिमत्ता और आर्थिक स्वार्थ ने उसे अँगरेज़ों का पक्ष लेने के लिए प्रेरित किया तो कोई आश्चर्य नहीं। इसीलिए अपनी नीति के विरुद्ध काम करने वालों को उन्होंने 'दुष्ट', 'मूढ़' और 'कुटिल' कहा।

विद्रोह के बाद हिंदी कवियो की नव चेतना जिन विविध रूपों में प्रस्फुटित हुई उनमें से नव शिक्षा के फलस्वरूप उत्पन्न विचार-स्वातंत्र्य और ऐतिहासिक अध्ययन के कारण भारत के प्राचीन गौरव और विदेशी आक्रमणकारियों के घातक प्रभाव, पराधीनता और अधोगति की ओर दृष्टि जाना स्वाभाविक और अनिवार्य था। साथ ही वे भारत के प्राचीन और मध्ययुगीन वीरों और उनके वीरतापूर्ण कृत्यों और भीषण युद्धों के उदाहरणों में अपनी नवोदित राष्ट्रीयता का प्रतिबिम्ब देखे बिना न रह सके। उस समय उनका काव्यमय भावोच्छ्वास और राष्ट्रीय गान जग उठता था। भारतेन्दु ने भारत के प्राचीन गौरव और वीर कृत्यों के सम्बन्ध में लिखा है :

> 'धन धन भारत के सब छत्री जिनकी सुजस-धुजा फहराय।
> मारि मारि कै सत्रु दिए हैं लाखन बेर भगाय॥
> महानंद की फौज सुनत ही डरे सिकंदर राय।
> राजा चंद्रगुप्त ले आए बेटी सिल्यूकस की जाय॥
> मारि बलूचिन बिक्रम रहे शकारी पदवी पाय।
> बापा कासिम-तनय मुहम्मद जीत्यो सिन्धु दियौ उतराय॥

आयो मामूँ चढ़ि हिंदुन पै चौबिस बेरा सेन सजाय ।
खुम्मानराय तेहि बाप-सार लखि सब बिध दियो हराय ।।
लाहौर-राज जयपाल गयो चढ़ि खुरासान पर धाय ।
दीनो प्रान अनंदपाल पर छाँड्यौ देश धरम नहिं जाय ।।'[1]

'भारत के भुज-बल जग रच्छित । भारत विद्या लहि जग सिच्छित ।।
भारत तेज जगत विस्तारा । भारत भय कंपत संसारा ।।
जाके तनकहिं भौंह हिलाए । थर थर कंपत नृप डरपाए ।।
जाके जय की उज्जल गाथा । गावत सब महि मंगल साथा ।।
भारत किरिन जगत उँजियारा । भारत जीव जिअत संसारा ।।
भारत वेद कथा इतिहासा । भारत वेद प्रथा परकासा ।।
फिनिक मिसिर सीरीय युनाना । भे पंडित लहि भारत दाना ।।
रह्यो रुधिर जब आरज-सीसा । ज्वलित अनल समान अवनीसा ।।
साहस बल इन सम कोउ नाहीं । तबै रह्यौ महिमंडल माहीं ।।'[2]

अथवा,

'जय जयति सदा स्वाधीन, हिन्द
जय जयति जयति प्राचीन, हिन्द
हिन्दू अनुपम अगम वन, प्रेम-बेल-रस-पुंज
श्रीधर-मन-मधुकर फिरत गुञ्जत नित नव कुंज'[3]

उसी सभ्यता और संस्कृति के सर्वोच्च शिखर पर आसीन, ज्ञान-गरिमा से मंडित और वीर-कृत्यों के कारण सर्वपूज्य और जगत्वंद्य भारतवर्ष की कैसी क्षोभपूर्ण अवस्था हो गई थी, उसकी कितनी दुर्दशा हो गई थी, वह भारतेन्दु की निम्नलिखित पंक्तियों से प्रकट होता है :

'रोवहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई ।
हा हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई ।। ।। ध्रुव ।।
....अब सब के पीछे सोई परत लखाई ।
हा हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई ।।

---

१. 'वर्षाविनोद' (१८८०), भारतेन्दु-ग्रन्थावली, दूसरा खंड, नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी, (सं० १९९१), ५१, पृ० ५०३

२. 'भारत दुर्दशा' (१८८०), भा० ना० (इंडियन प्रेस, पृ० ६२९ तथा 'विजयिनी विजय-पताका या वैजयंती' (१८८२), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, ४८-५२, पृ० ८०४-८०५

३. श्रीधर पाठक : 'हिन्द-वन्दना' (१८८५), पृ० ४८

....तहँ रही मूढ़ता कलह अविद्या राती ।।
अब जहँ देखहु तहँ दुःखहि दुःख दिखाई ।
हा हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई ।।'[१]
'सोई भारत भूमि भई सब भाँति दुखारी ।
रह्यौ न एकहु बीर सहस्रन कोस मँझारी ।।
होत सिंह को नाद जौन भारत-बन माहीं ।
तहँ अब ससक सियार स्वान खर आदि लखाहीं ।
जहँ झूसी उज्जैन अवध कन्नौज रहे वर ।
तहँ अब रोवत सिवा चहूँ दिसि लखियत खँडहर ।।
धन विद्या बल मान वीरता कीरत छाई ।
रही जहाँ तित केवल अब दीनता लखाई ।।'[२]

इसी प्रकार 'तृप्यन्ताम्' (१८९१) में प्रतापनारायण मिश्र ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में भारत की अधःपतित अवस्था का दिग्दर्शन कराया है। उनकी वाणी तीव्र व्यंग्य से भरी हुई है।

भारत की इस अधोगति का आखिर कारण क्या था ? भारतवासी मनुष्य होकर ग़ुलाम कैसे हुए ? स्वयं भारतेन्दु के शब्दों में :

'बैर फूट ही सो भयो सब भारत को नास ।
तबहुँ न छाँड़त याहि सब बँधे मोह के फाँस ।'[३]

तथा अन्य अनेक कवियों की भाँति बालमुकुन्द गुप्त का कथन है :

'तहां टिकै क्यों बाहुबल जिन घर मेवा फूट ।
बल बपुरो कैसे रहे जाय बाहु जब टूट ।।
जहां लरैं सुत बाप संग और भ्रात सों भ्रात ।
तिनके मस्तक सों हटै कैसे पर की लात ।।
लरि लरि अपुनो बाहुबल खोयो कृपानिधान ।
आप मिटे तौहू नहीं मिटी लरन की बान ।।'[४]

---

१. 'भारत दुर्दशा' (१८८०), भा० ना० (इंडियन प्रेस), पृ० ५६७-८

२. 'विजयिनी-विजय-पताका या वैजयंती' (१८८२), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, ५५-५८, पृ० ८०५

३. 'हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान' (१८७७), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, ८७-८८, पृ० ७३८

४. 'श्रीराम स्तोत्र' (१८९६)

श्रीधर पाठक 'मनोविनोद' में कहते हैं :

'पृथ्वीराज जैचन्द जब से गये हैं
उसी काल से इसके दिन फिर गये हैं
परस्पर के विद्वेष की चंड ज्वाला
बढ़ी देश में भीम रूपा कराला
किया नष्ट उसने प्रजा भारती को
बिगाड़ा सभों की विशुद्धा मती को
हुआ म्लेच्छ-आवास सब देश भर में
अविद्या गयी छाय प्रत्येक घर में
कहाये सभी आर्य "हिन्दू" औ "काफ़िर"
पताका विमल देश की है गयी गिर ।।'[१]

'बादशाह-दर्पण' (१६१७ में खड्गविलास प्रेस से प्रकाशित द्वितीय संस्करण) में भारतीय इतिहास-सम्बन्धी अपने विचार प्रकट करते हुए भारतेन्दु उक्त ग्रन्थ की भूमिका में जो कुछ लिखते हैं उससे उनके मुसलमानों के प्रति रुख और ऐतिहासिक अध्ययन पर प्रकाश पड़ता है। वे लिखते हैं :

'जब से यहाँ का स्वाधीनता सूर्य अस्त हुआ उसके पूर्व समय का उत्तम शृङ्खलाबद्ध कोई इतिहास नहीं है। मुसलमान लेखकों ने जो इतिहास लिखे भी हैं उनमें आर्य-कीर्ति को लोप कर दिया है। आशा है कि कोई माई का लाल ऐसा भी होगा जो बहुत सा परिश्रम स्वीकार करके एक बेर अपने 'बाप-दादों' का पूरा इतिहास लिख कर उनकी कीर्ति चिरस्थायी करेगा। इस ग्रन्थ में तो केवल उन्हीं लोगों का चरित्र है जिन्होंने लोगों को गुलाम बनाना आरम्भ किया। इनमें उन मस्त हाथियों के छोटे-छोटे चित्र हैं जिन्होंने भारत के लहलहाते हुए कमल-बन को उजाड़ कर पैर से कुचल कर छिन्न-भिन्न कर दिया। मुहम्मद, महमूद, अलाउद्दीन, अकबर और औरंगज़ेब आदि इनमें मुख्य हैं।'

विदेशी आक्रमणकारियों के घातक प्रभाव के अतिरिक्त भारत के अध:पतन के कारण स्वयं देश में विद्यमान थे। पारस्परिक कलह और धार्मिक सम्प्रदायों के विद्वेष का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। साथ ही उन्होंने ब्राह्मणों को भी दोषी ठहराया है :

---

१. १६१७ का संस्करण, पृ० १७७

'रचि बहु बिधि के वाक्य पुरानन माँहि घुसाए।
शैव शाक्त वैष्णव अनेक मत प्रगटि चलाए॥
जाति अनेकन करी नीच अरु ऊँच बनायो।
खान पान संबंध सबन सो बरजि छुड़ायो॥'[१]
'अपरस सोल्हा छूत रचि, भोजन-प्रीति छड़ाय।
किए तीन तेरह सबै, चौका चौका लाय।
रचि कै मत वेदांत को, सब को ब्रह्म बनाय।
हिन्दुन पुरुषोत्तम कियो, तोरि हाथ अरु पाय॥

'वेदान्त ने बड़ा ही उपकार किया। सब हिन्दू ब्रह्म हो गए। ज्ञानी बन कर ईश्वर से विमुख हुए, रुक्ष हुए, अभिमानी हुए और इसी से स्नेहशून्य हो गए। जब स्नेह ही नहीं तब देशोद्धार का प्रयत्न कहाँ? बस, जय शंकर की।[२]

यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में भारतेन्दु अथवा अन्य किसी कवि ने मुसलमानों के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है वह राजनीतिक अस्तव्यस्तता और तज्जनित देश की पीड़ित अवस्था और धार्मिक अत्याचार की दृष्टि से कहा है। सतीत्व-रक्षा, गो-रक्षा, मूर्ति-रक्षा आदि की पुकार मुसलमानी राज्य से चली आ रही पुकार के रूप हैं। यह पुकार स्वयं इस्लाम धर्म या उसके पैग़ंबरों के विरुद्ध नहीं थी। 'पंच पवित्रात्मा' लिख कर भारतेन्दु ने स्वयं इस बात का प्रमाण दिया है। भारतवर्ष जैसे देश से धार्मिक असहिष्णुता की आशा करना वैसे भी न्यास-संगत नहीं। जिस समय अँगरेज़ भारतवर्ष आए उस समय हिन्दू जनता मुसलमानी धार्मिक विद्वेष से प्रेरित अत्याचारों के कारण पीड़ित थी। इतिहास के अध्ययन ने उसे यही बताया था और अभी उन अत्याचारों की स्मृति भी सजीव थी। मुसलमानों की अभारतीयता भी हिन्दू-मुस्लिम सौहार्द में बाधक बनी हुई थी। साथ ही निरन्तर युद्ध-विग्रह और कलह से भी वह ऊब उठी थी। अँगरेज़ी राज्य में उसे धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त हुई, विविध अत्याचारों से रक्षा हुई और दिन-रात की कलह और अशांति से छुटकारा मिल कर प्रत्यक्षतः सुख और शान्ति का अनुभव हुआ।

भारत की पद-दलित अवस्था का स्मरण होते ही कवियों का ध्यान विदेशी

---

१. 'भारतदुर्दशा' (१८८०), भा० न०, इं० प्रे०, पृ० ६०४
२. वही, पृ० ६०५-६०६

धर्मावलम्बियों, विशेषतः मुसलमानों, की ओर अवश्य आकृष्ट हो जाता था।[1] अँगरेज़ों के प्रति आकर्षण अधिकांश में ऐतिहासिक और राजनीतिक दृष्टि से था। उनके नेतृत्व में अफ़गानिस्तान या मिश्र में भारतीय सेना का वीरत्व-प्रदर्शन इसलिए और भी महत्व रखता था क्योंकि उसने भारतीय (हिन्दू) होने के नाते मुस्लिम देशों पर विजय प्राप्त की। अँगरेज़ों की राजनीतिक साया में यह विचार हिन्दुओं के लिए बहुत-कुछ स्वाभाविक था। किन्तु हिन्दी की आधुनिक राष्ट्रीयता में हिन्दू-मुस्लिम-सम्बन्धी विचारों में बिलकुल परिवर्तन हो गया है यह बात ध्यान देने योग्य है।

अँगरेज़ी राज्य में भारतवासियों को मुसलमानी अत्याचार और दिन-रात की कलह और अशांति से पहले-पहल रक्षा मिली। इसलिए उन्होंने मुसलमानी राज्य की अपेक्षा अँगरेज़ी शासन कहीं अधिक श्रेयस्कर समझा। प्रत्यक्षतः सुख-शांति के साथ पाश्चात्य सभ्यता द्वारा प्रदत्त विविध वैज्ञानिक साधनों के सुखोपभोग, वैध शासन, सुन्दर न्याय-पद्धति, नव शिक्षा आदि के कारण उन्होंने अँगरेज़ी राज्य के गुणगान किए, 'रूल ब्रिटानिया' के नारे लगाए। भारतेन्दु ने अँगरेज़ी राज्य के सम्बन्ध में इस प्रकार अपने भाव प्रकट किए हैं :

"वृटिश सुशासित भूमि मैं आनँद उमगे जात।"[2]

प्रतापनारायण मिश्र ने 'ब्रैडला-स्वागत' (१८८६) में उलाहना प्रकट करते हुए भी नवीन शासन-प्रणाली की अच्छी-अच्छी बातें भुला नहीं दीं। बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' तो स्पष्ट शब्दों में कहते हैं :

'धन्य तिहारो राज, अरी मेरी महरानी !
सिंह, अजा सँग पियत जहाँ एकहि थल पानी।
जहँ दिन दुपहर परत रहे डाके नगरन मैं।
तहँ रच्छक निरखियत पथिक जन के हित बन मैं ॥
जहाँ काफ़िले लुटत रहे सौ यतन किये हूँ।
जिन दुरगम थल माहिँ गयो कोऊ नहिं कबहूँ ॥

---

१. 'भारतदुर्दशा' (१८८०) में भारतदुर्दैव के परिच्छद का वर्णन इस प्रकार दिया गया है—"क्रूर, आधा क्रिस्तानी आधा मुसलमानी वेष, हाथ में नंगी तलवार लिए।" पृ० ६०२

२. 'भारत भिक्षा' (१८७५), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, २, पृ० ७०१, 'भारत-वीरत्व' (१८७१), वही, २, पृ० ७६१, और 'विजयिनी-विजय-पताका तथा वैजयन्ती' (१८८२), वही, ८, पृ० ८००

रेल यान परभाय अँधेरी रातहुँ निधरक ।
अंध, पंगु, निसहाय जात अबला बाला तक !।
माल करोरन को बिन मालिक पहुँचत निज थल ।
अन्य दीपहुँ पहुँचावत धूआँकस चलि जल ।।
डाक तार को जो प्रबन्ध तेहि जगत सराहत ।
लाखन रोगिन रोज डाक्टर लोग जियावत ।।
जिहि बन केहरि हेरत मत्त मतंगहि डोलत ।
तहाँ बन्यो नव नगर सुखी नर-नारि कलोलत ।।
पर्वत अधित्यका जे रहीं कबहुँ कण्टक मय ।
तहाँ शस्य लहरात बालकहु बिहरत निर्भय ।
जल बिहीन थल बीच नहर बनि गईं अनेकन ।
सड़क हजारन कढ़ीं छाँह कौ बृच्छ करोरन ।।
तड़ित, गेस परकास राजपथ रजनि सुहाए ।
महा महा नद माहिं सेतु सुन्दर बँधवाए ।।
बने विश्व विद्यालय, विद्यालय, पाठालय ।
पावत प्रजा अलभ्य लाभ जिनतें बिन संसय ।।
यों बहु भाँतिन कर भारत उन्नति मन भावनि ।
तब उन्नति अपनी कीनी, तुम हिय हरषावनि ।।'[1]

एक और स्थल पर उनका कहना है :

'महारानी विक्टोरिया, लण्डन जासु निवासु ।
रिपु चखचौंधी देत रण, युद्ध प्रभाकर जासु ।।४।।
जासु राजसी साज लखि, सुरपत हूँ सरमात ।
धर्मराज से जात ठगि, देखि अदालत बात ।।५।।
पीनल कोडरु पुलिस पुनि, मैजिस्ट्रेटी देखि ।
निज करतब गुनि वृथा यम, सम अमल न अवरेखि ।।६।।
धूआँकस तोपैं घड़ी, रेल तार सुविसेखि ।
विसुकर्मा बौरे भये, किलन पुलन अवरेखि ।।७।।
शोक व्याधि से ग्रसित भे, धन्वन्तर ऋषिराज ।
लखि महौषधालयन मंहं, डाक्तरन के काज ।।८।।

---

१. 'हार्दिक हर्षादर्श' (१८९७), पृ० १२-१४

शारद शुक्र गजाननहु, सेसहु सभय विसेखि।
कालिज यूनिवरसिटियन, स्कूलन अवरेखि ।।६।।
लोट करेन्सी प्रमसिरी, टिकट स्टाम्प ढेर।
पेखि चरित्र रु देख यह, सोचत खरे कुबेर ।।१०।।
आवागमन जहाज को, सिन्धु माँह लखि नित्त।
त्याग भवन भजिवो चहत, वरुण सशंकित चित्त ।।११।।

× × ×

जिन मार्‌यो सब दुष्ट जन, भली भाँति दै दण्ड।
जयति कुइन विक्टोरिया, परम प्रताप प्रचण्ड ।।१४।।
न्याय चन्द पंकज यमन, नासि शस्त्र हिम पाहि।
भारत कुमुद विकासि निज, राज यामिनी माहिं ।।१५।।
जासु राज में सब प्रजा, सोवत निर्भय होय।
जासु राज में दुष्ट जन, काटत जीवन रोय ।।१६।।
जासु राज में यमन सब, बोलत सीधो बैन।
जे नित छूरी टेवते, अब ग्रीवां उभरे न ।।१७।।
जे नित लाखन जीव को, हतत हते बिन काज।
सीधो भूषण धारिते, निसि दिन पढ़त निवाज ।।१८।।
जे ह्यां की युवती लखत, लेत अेंठ कर मूँछ।
ते अब नजर बचावते, जात दबाये पूँछ ।।१६।।
देवालय बिच घुस करत जौन विविध उतपात।
ते उत तनिक बिलोकतहि, कोड़न धक्के खात ।।२०।।
अग्नि मांहि जरि जाइबो, ई जंह हतो निबाह।
तंह विधवा युवतीन के, होते पुनर विवाह ।।२१।।
जेहि भय बस भारत सुता, जन्मत तुरत मरात।
ते निसंक अब पढ़न हित, इस्कूलन मैं जात ।।२२।।
कहं लग बरनन कीजिये, कीरति अमल अपार।
गावत हो थकिहैं गुरू, पै नहिं पैहैं पार ।।२३।।
तासु पुत्र आगमन मैं, मंगल मै चहुँ ओर।
करब सभै सत्कार बहु दै दै धनहि अथोर ।।२४।।'[1]

१. 'मानसोपायन' (१८७६), पृ० २-३

अँगरेज़ों के आने से भारत की आर्थिक और सांस्कृतिक अवस्था को बड़ा भारी धक्का पहुँचा, यह ठीक है। परन्तु संसार में कोई चीज़ बिल्कुल ही बुरी या बिल्कुल ही अच्छी नहीं कही जा सकती। पिछली शताब्दी में भारतीय जीवन की व्यवस्था ढीली और अनुशासनहीन हो चली थी। इसलिए अँगरेज़ों ने राजनीति, शासन-प्रणाली और शिक्षा-सम्बन्धी क्षेत्रों में पाश्चात्य ढंग पर जो सुधार किए उनको भारतवासियों ने बहुत पसन्द किया। प्रगति की इच्छा से प्रेरित होकर उन्होंने उन सुधारों के साथ आगे क़दम बढ़ाया। उन्हीं की वजह से उनको अँगरेज़ों की नीयत में भरोसा हो गया था। एक बात यह भी है कि बहुत दिनों की अवरुद्ध गति के बाद अवसर पाकर वे मानसिक और भौतिक उन्नति की ओर बढ़ रहे थे। देश में पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से नए-नए भावों और विचारों की उद्भावना और राष्ट्रीय एवं सामाजिक जागृति होने लगी थी। ब्रिटिश साम्राज्य को वे प्रजातन्त्र का रूप देना चाहते थे। इसी सिद्धान्त के आधार पर उन्होंने काले-गोरे का भेदभाव और भारत-वासियों को उच्च सरकारी पद न मिलना आदि अनीतियों का घोर विरोध किया। वे देश को राजनीतिक क्षेत्र में आगे बढ़ते हुए देखना चाहते थे। भारत की इन महत्त्वपूर्ण आकांक्षाओं से सहानुभूति रखने वाले चार्ल्स ब्रैडला जैसे अँगरेज़ लोगों की श्रद्धा के पात्र बन गए थे। अँगरेज़ी सरकार के किसी भी प्रगतिशील राजनीतिक विधान पर कविगण अपना हार्दिक हर्ष प्रकट किए बिना न रहते थे। फिर रेल, तार, डाक आदि विभागों और वैज्ञानिक नवीनताओं की व्यवस्था से अनेक सुविधाएँ हुईं और देश में आश्चर्यजनक उन्नति हुई और जीवन कुछ सुखमय हुआ। कवियों ने उसका स्वागत किया। परन्तु अँगरेज़ी राज्य के इन समस्त ऐश्वर्य और सुखों के रहते हुए भी भारतेन्दु, बालमुकुन्द गुप्त और प्रतापनारायण मिश्र जैसे कवियों का दृष्टिकोण बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' जैसे कवियों के दृष्टिकोण से कुछ भिन्न था। 'प्रेमघन' की दृष्टि देश की राजनीतिक परिस्थिति पर लगी रहती थी। वे हर बात बड़ी उत्कंठा और लगन के साथ परखा करते थे। वे भी भारतेन्दु तथा अन्य कवियों की भाँति भारत की 'स्वतन्त्रता' के हामी थे। परन्तु उनमें उदार और सुधारवादी प्रवृत्ति और कवियों की अपेक्षा विशेष रूप से अधिक पाई जाती है। उन्होंने 'मानसोपायन' (१८७६), 'मंगलाशा या हार्दिक धन्यवाद' (१८९२), 'हार्दिक हर्षादर्श' (१८९७), 'प्रजा शिषोपायन' आदि ग्रन्थों में अँगरेज़ी राज्य के अन्तर्गत वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा प्रदत्त सुविधाएँ और देश की उन्नति, शासन-प्रणाली की सुव्यवस्था, शिक्षा, सामाजिक सुधार, मुसलमानों के अत्याचार से रक्षा आदि लाभों पर आनन्द प्रकट किया है। परन्तु उनकी इस उदार नीति के कारण हम उन्हें खुशामदी नहीं कह सकते। जुबिली तथा अन्य अवसरों पर हर्ष प्रकट करते हुए भी उन्होंने 'अब तो ह्यां धन रह्यो नहिं'

कह कर तथा शासन-सम्बन्धी अन्य अनीतिपूर्ण बातों की ओर निर्देश कर देश की दशा तथा अन्य बुराइयों पर दुःख प्रकट किया है। आधुनिक परिभाषा में हम कह सकते हैं कि भारतेन्दु, बालमुकुन्द गुप्त, और प्रतापनारायण मिश्र, और 'प्रेमघन' में गरम और नरम का भेद है। दोनों वर्गों के कवियों की गरमी और नरमी समयानुकूल थी, यह अवश्य मानना पड़ेगा।

प्राचीन भारत में 'राजा कृष्ण समान'[1] वाली भावना का विशेष स्थान था। शासन-सूत्र व्यक्तिगत रूप से राजा के हाथ में रहता था। न्याय अथवा किसी अन्य प्रार्थना के लिए जनता की राजा तक पहुँच थी। पाश्चात्य ढङ्ग के प्रतिनिधि शासन का उस समय प्रचार नहीं था। अतः प्राचीन भारतीय राजनीति में राजा के व्यक्तित्व के साथ प्रजा का विशेष सम्बन्ध था। उन्नींसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में अँगरेज़ी राज्य की नियामतों के साथ-साथ 'नराणां च नराधिपः' वाली भावना भी काम कर रही थी। इसीलिए भारतेन्दु ने इँगलैंड के राजकुमार आदि के शुभागमन के अवसरों पर इसी प्राचीन भारतीय भावना से प्रेरित हो कर अपने विचार व्यक्त किए। १८७१ में प्रिंस ऑव वेल्स की अवस्था विषम ज्वर के कारण कष्ट-साध्य हो गई थी। उक्त अवसर पर भगवान् से प्रार्थना करते हुए भारतेन्दु कहते हैं :

....हम हैं भारत की प्रजा, सब बिधि हीन मलीन।'....
....'जिनकी माता सब प्रजा-गन की जीवन प्रान '....[2]

साथ ही

'होई भारताधीस्वरी आरज-स्वामिन आज।
तुम द्वै आरज जाति कहँ मिलयो धन यह राज॥'[3]

कह कर हिन्दुओं और अँगरेजों में 'एक जातित्व' स्थापित कर इँगलैण्ड के राजकुमार, विक्टोरिया महारानी आदि को आर्येश्वर, आर्येश्वरी माता, अम्ब, देवी आदि नामों से सम्बोधित किया, शुभ अवसरों पर हर्षोत्सव मनाए, उनका गुणगान एवं यश-वर्णन किया, और उनकी 'रघुवर', 'शमीरामा' आदि पौराणिक चरित्रों से तुलना की। यही उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के हिन्दी कवियों की राजभक्ति की नींव है। इसी

---

१. 'मनोमुकुल-माला' (१८७७), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, ५, पृ० ७४५

२. भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, ४, ८, पृ० ६३३

३. 'मनोमुकुल-माला' (१८७७), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, ७, पृ० ७४५

सम्बन्ध द्वारा वे भारत और ग्रेट ब्रिटेन के समस्त हित-साधनों में सामंजस्य स्थापित करने लगते थे। और इसी सम्बन्ध एवं आर्यत्व और प्राचीन भारत के वीरत्व की भावना से प्रेरित होकर वे अँगरेज़ों के अधीन भारतीय सेना के किसी सुदूर देश में विजय प्राप्त करने पर अपनी राज्यभक्ति (या भारतीय के नाते से कहिए देशभक्ति) से प्रेरित होकर विजय-गान गा उठते थे, और प्राचीन भारत की शक्तिवाहिनी चतुरंगिणी सेना के वीरों और उनके वीर कृत्यों को स्मरण कर पुलकित हो उठते थे।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उस समय देश का नेतृत्व मध्यमवर्गीय शिक्षित समुदाय के हाथों में था। इस वर्ग ने आर्थिक, राजनीतिक तथा शिक्षा सम्बन्धी क्षेत्रों में विशेष उन्नति कर ली थी। किन्तु साधारणतया निम्न मध्यम वर्ग और किसानों तथा अन्य निम्न श्रेणी के लोगों की दशा अच्छी न थी। समाज के मध्यम-वर्गीय उन्नत समुदाय ने देश में चारों ओर अज्ञान, अविद्या, निर्धनता और नैतिक दुर्दशा का राज्य और जनता में कुप्रवृत्तियों और कुप्रथाओं का प्रचार देखा। उधर दूसरी ओर, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, राज्य में छोटे-छोटे अँगरेज़ कर्मचारियों का जातीय पक्षपात, काले-गोरे का भेद, भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार, सरकारी पद पर भारतवासियों का नियुक्त न होना, गवर्नर-जनरल और गवर्नर की कौंसिलों में उनका सदस्य नियुक्त न होना, भारत की निर्धनता और आर्थिक दुरवस्था आदि विषय नेताओं का ध्यान आकृष्ट किए हुए थे। वे सम्राट् की छत्रछाया में ही औपनिवेशिक प्रतिनिधि-शासन प्राप्त करना चाहते थे। देश को उन्नति के मार्ग पर अग्रसर करने के लिए मैज़िनी का आदर्श उनके सामने था। किन्तु मैज़िनी के क्रांतिकारी साधनों के वे हिमायती नहीं थे, क्योंकि एक तो उस समय देश किसी भी प्रकार के क्रांतिकारी साधन का उपयोग करने या सरकार से खुल्लमखुल्ला मोर्चा लेने के अयोग्य था, दूसरे उनका राजनीतिक ध्येय उन्हें उन राजनीतिक आन्दोलनों को जन्म देने से रोकता था, और, तीसरे, अँगरेज़ों की सैनिक शक्ति का आतंक छाया हुआ था।

इसलिए एक ओर वे अवसर मिलने पर राजनीतिक दृष्टि से जनता की भलाई की माँगें सरकार के सामने पेश करते थे; दूसरी ओर वे जनता को सुधारने और उसको उन्नति-पथ पर अग्रसर करने के लिए सदा प्रयत्नशील रहते थे। जुबिली, राजकुमारागमन, राजकुमारजन्मोत्सव, युद्ध-विजय, दरबारों आदि के अवसरों पर वे राजभक्ति तो प्रकट करते ही थे, साथ ही भारत की दीन-दशा का चित्र खींच अपनी आर्थिक और राजनीतिक अथवा शासन-सम्बन्धी माँगें पूरी करने की सरकार से अपील करते थे। राजकुमारागमन, जुबिली, दरबार आदि शुभ अवसरों और हर्षोत्सवों पर जनता की अपनी प्रार्थनाओं और माँगों की पूर्ति की ओर सरकार का ध्यान आकृष्ट करना भारतीय पद्धति के अनुसार तो था ही, किन्तु साथ ही :

'बिचारे छोटे पद के अँगरेज़ों को हमारे चित्त की क्या खबर है, ये अपनी ही तीन छटाँक पकाने जानते हैं। अतएव दोनों प्रजा एक-रस नहीं हो जाती; आप दूर बसे, हमारा जी कोई देखने वाला नहीं, बस छुट्टी हुई।'[1]

इसलिए

'जब आपसे कुछ भी कहने की इच्छा करते हैं तो चित्त में कैसे विविध भाव उत्पन्न होते हैं। कभी भारतवर्ष के पुरावृत्त के प्रारम्भ काल से आज तक जो बड़े-बड़े दृश्य यहाँ बीते हैं और जो महायुद्ध, महाशोभा और महा दुर्दशा भारतवर्ष की हुई है, उनमें उनके चित्र नेत्र के सामने लिख जाते हैं। कभी हिन्दुओं की दशा पर करुणा उत्पन्न होती है, कभी स्नेह कहता है कि हाँ यही अवसर है, खूब जी खोलकर जो कुछ हृदय में बहुत काल से भाव और उद्गार संचित हैं, उनको प्रकाश करो।'[2]

किन्तु

'साथ ही राजभक्ति और आपका प्रताप कहता है कि खबरदार, हद से आगे न बढ़ना, जो कुछ विनती करना बड़ी नम्रता और प्रमाण के साथ।'[3]

अस्तु, इस मानसिक पीठिका के साथ कविगण देश की दुरवस्था का चित्र खींच राजनीतिक और शासन-सम्बन्धी अनीतियों को दूर करने की माँगें सरकार के सामने रखते थे। यह सदैव याद रखना चाहिए कि ये माँगें प्राय: आर्थिक या आर्थिक आधार लिए हुए होती थीं। कुछ प्रारम्भिक राजनीतिक तथा अन्य सुधारों के कारण भारतवासियों को भारत में इँगलैंड के मिशन पर बहुत-कुछ भरोसा हो चला था। पाश्चात्य विचारों से प्रभावित तथा यात्रा-सम्बन्धी सुगमताओं के फलस्वरूप हुई ऐक्य-भावना से प्रेरित होकर उन्हें इँगलैंड से और भी आशाएँ बँध गई थीं। सरकार से आशा रखने के साथ-साथ वे अपनी त्रुटियाँ दूर करने पर भी ज़ोर देते थे।

राज्य-भक्ति की ओर संकेत करते हुए भारतेन्दु कहते हैं :

" 'डिसलायल' हिन्दुन कहत कहाँ मूढ़ ते लोग।
दृग भर निरखहिं आज ते राजभक्ति-संयोग।।

---

१. भारतेन्दु : 'मानसोपायन' (१८७७), भूमिका-भाग, भा० ग्रं० द्वि०, ना० प्र० स०, पृ०-७२१-७२२

२. वही, पृ० ७२१

३. वही, पृ० ७२१

निरभय पग आगेहिं परत मुख तें भाखत मार।
चले वीर सब लरन हित पच्छिम दिसि इक बार ॥"....[१]

जिन तत्कालीन प्रमुख समस्याओं के सुलझाने में शिक्षित वर्ग दत्तचित्त था उनसे हिन्दू नेताओं की राजनीति और उसके आर्थिक आधार का परिचय भी प्राप्त होता है। अफ़गान-युद्ध में सरकार ने अत्यधिक व्यय किया था। भारतेन्दु कहते हैं :

'कहा तुम्हैं नहिं खबर खबर जय की इत आई।
जीति देश गन्धार सत्रु सब दिये भगाई ॥....
ताही कौ उत्साह बढ्यौ यह चहुँ दिसि भारी।
जय जय बोलत मुदित फिरत इत उत नर नारी ॥
नहिं नहिं यह कारन नहीं अहै और ही बात।
जो भारतवासी सबै प्रमुदित अतिहि लखात ॥
काबुल सों इनको कहा हिये हरख की आस।
ये तो निज धन-नास सों रन सों और उदास।
ये तो समुझत व्यर्थ सब यह रोटी उतपात।
भारत कोष बिनास कों हिय अति ही अकुलात ॥
ईति भीति दुष्काल सों पीड़ित कर को सोग।
ताहू पै धन-नास को यह बिनु काज कुयोग ॥
स्ट्रेची डिज़रैली लिटन चितय नीति के जाल।
फँसि भारत जरजर भयो काबुल-युद्ध अकाल ॥
सबहिं भाँति नृप-भक्त जे भारतवासी-लोक।
अस्त्र और मुद्रण विषय करी तिनहुँ को लोक ॥
सुजस मिलै अङ्गरेज को होय रूस की रोक।
बढ़ै वृटिश बाणिज्य पै हमको केवल सोक ॥
भारत राज मँझार जौ कहुँ काबुल मिलि जाइ।
जज्ज कलक्टर होइहैं हिन्दू नहिं तित धाइ।
ये तो केवल मरन हित द्रव्य देन हित हीन।
तासों काबुल-युद्ध सों ये जिय सदा मलीन ॥'[२]

---

१. 'भारत-वीरत्व' (१८७८), भा० ग्र० द्वि०, ना० प्रा० स०, ३८-३९ पृ० ७६५

२. 'विजय-वल्लरी' (१८८१), भा० ग्र०, द्वि०, ना० प्र० स०, ७, २३ ३२, पृ० क्रमशः ७९३, ७९५

'भारत राज मँझार....' आदि पंक्तियों से आर्थिक लाभ के अतिरिक्त बड़े-बड़े सरकारी पद ग्रहण कर मुसलमानों पर शासन करने की ध्वनि भी निकलती है। इसी के आगे वे कहते हैं :

'इनके जिय के हरख को औरहि कारन कोय।
जो ये सब दुख भूलि कै रहे अनन्दित होय ।।
अब जानी हम बात जौन अति आनन्दकारी।
जासों प्रमुदित भये सबै भारत नर-नारी ।।
नृप रहमान अयूब दोऊ निलि कलह मचाई।
अन्त प्रबल ह्वै लिय अयूब गन्धार छुड़ाई ।।
आदि बंस नव बंस दोऊ काबुल अधिकारी।
जाहि जातिगत करैं चहैं निज नृप बलधारी ।।
यामें हमरो कहा कउन उन सों मम नाता।
भार पड़ैं मिलि लड़ैं भिड़ैं झगड़ैं सब भ्राता ।।
दृढ़ करि भारत सीम बसैं अँगरेज सुखारे।
भारत असु बसु हरित करहि सब आर्य्य दुखारे ।।
सत्रु सत्रु लड़वाइ दूर रहि लखिय तमासा।
देखिए जाहि ताहि मिलि दीजै आसा ।।
लिबरल दल बुधि मौन शान्ति पिय अति उदार चित।
पिछली चूक सुधारि अबै करिहै भारत हित।
खुलिहै ''लोन'' न युद्ध बिना लगिहैं नहिं टिक्कस।
रहिहै प्रजा अनन्द सहित बढ़िहै मन्त्री-जस।
यहै सोचि आनन्द भरे भारतबासी जन।
प्रमुदित इत उत फिरहिं आज रच्छित लखि निज धन ।।'[1]

ये ही बातें सरकार के सामने माँगों का रूप धारण कर लेती थीं। राष्ट्रीय हित का ध्यान रखते हुए उन्होंने कहीं भी बरती गईं अहितकारी सरकारी नीतियों की कड़ी आलोचना की। कहना न होगा कि सरकार की ऐसी नीतियों में उनकी आर्थिक नीति ही प्रमुख थी :

'भीतर भीतर सब रस चूसै। हँसि हँसि कै तन मन धन मूसै।
जाहिर बातन में अति तेज। क्यों सखि सज्जन नहिं अँगरेज ।।'[2]

---

१. वही, ३३-४२ पृ० ७९५-७९६

२. 'नए जमाने की मुकरी' (१८८४), भा० ग्रं०, द्वि, ना० प्र० स०, ८ पृ० ८११

'अँगरेज राज सुख साज सजे सब भारी ।
पै धन विदेस चलि जात इहै अति ख्वारी ।।
ताहू पै महँगी काल रोग बिस्तारी ।।
दिन दिन दूने दुख ईस देत हा हा री ।।
सब के ऊपर टिक्कस की आफत आई ।
हा हा ! भारतदुर्दशा न देखी जाई ।।'[१]

देश के आर्थिक शोषण और निर्धनता पर बालमुकुन्द गुप्त ने व्यंग से भरे अत्यन्त चुभते हुए वाक्य कहे हैं । निम्नलिखित पंक्तियाँ उनकी क्षुब्ध भावनाओं पर बड़ा अच्छा प्रकाश डालती हैं :

'का दै जननी पूजा करैं तुम्हार ।
पेटहु कै निस दिन है हाहाकार ।।
उदर भरन हित अन्न, रह्यो घर मांह जो ।
दानव-दल मा आय काढ़, मुख तैं लयो ।।
मन ही गयो बिलाय कछू अब रह्यो न बाकी ।
उदर हेत हम बेच चुके मा चूल्हे चाकी ।'[२]

× × ×

'भारत घोर मसान है, तू आप मसानी ।
भारतवासी प्रेत से डोलहिं कल्यानी ।
हाड़मांस नर रक्त है भूतन की सेवा ।
यहाँ कहाँ मा पाइये चन्दन घी मेवा ?'[३]
'पेट भरनहित फिरें हाय कूकर से दर दर ।
चाटहिं ताके पैर लपकि मारहिं जो ठोकर ।।
तुम्हीं बताओ राम तुम्हें हम कैसे जानैं ।
कैसे तुम्हरी महिमा कलुषित हिय महं आनैं ।।'[४]
'हरे राम केहि पाप ते भारत भूमि मझार ।
हाड़न की चक्की चलैं हाड़न को व्यापार ।।'[५]

---

१. 'भारतदुर्दशा' (१८८०), भा० ना०, इं० प्रे०, पृ० ५९८
२. 'देवी-स्तुति : आगबनो' (१८९५), पृ० २२
३. 'आवहु माय' (१८९८), पृ० ३२, ४१
४. 'राम भरोसा' (१८९८), पृ० ६
५. 'हे राम' (१९००), पृ० १०

१८८५ में काँग्रेस की स्थापना का मुस्लिम वर्ग ने अत्यन्त विरोध किया। इस वर्ग के नेताओं का कहना था कि अगर सरकार काँग्रेस की जनसत्तात्मक माँगें स्वीकार कर लेगी तो उन्हें बहुसंख्यक हिन्दुओं के अधीन होकर रहना पड़ेगा जिससे उनकी सभ्यता और संस्कृति के खतरे में पड़ जाने का डर था। भारत में मुसलमानी राज्य नष्ट हो चुका था। सर सैयद अहमद खाँ चाहते थे कि शासन-सम्बन्धी मामलों में मुसलमान विशेषाधिकार प्राप्त कर अँगरेज़ों के साथ मिल कर फिर से भारतवर्ष पर राज्य करें। इसी आधार पर उन्होंने काँग्रेस की माँगों पर विशेष आपत्ति की। सभी देशभक्त और प्रगतिशील व्यक्तियों ने मुसलमानों का यह रुख राष्ट्र के लिए अहितकर समझा। बालमुकुन्द गुप्त प्रजातन्त्रवादी और उग्र विचारों के थे। उन्होंने 'सर सैय्यद का बुढ़ापा' (१८९०) शीर्षक कविता में सर सैयद के राष्ट्रीय हितों के घातक विचारों की तीव्र आलोचना की है। उनके सामने हिन्दू-मुसलमान का प्रश्न नहीं था। वे भारत की दरिद्र जनता के साथ थे। उनकी रचनाओं में देश की पीड़ित व्याकुल आत्मा फूटी पड़ती है। उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ विशेष रूप से हमारा ध्यान आकृष्ट करती हैं :

'हे धनियो क्या दीन जनों की नहिं सुनते हो हाहाकार।
जिसका मरे पड़ोसी भूखा उसके भोजन को धिक्कार॥
भूखों की सुध उसके जी में कहिये किस पथ से आवे।
जिसका पेट मिष्ट भोजन से ठीक नाक तक भर जावे॥

× × ×

'हे बाबा ! जो यह बेचारे भूखों प्राण गवावेंगे।
तब कहिये क्या धनी गलाकर अशर्फियाँ पी जावेंगे।'[1]

अँगरेज़ों की आर्थिक नीति के कारण भारत का धन विदेश जाने लगा था। किसानों की दशा तो इतनी बिगड़ गई थी कि अकाल पड़ने या भूकम्प आने पर वे अपना पालन-पोषण भी न कर सकते थे और लाखों मनुष्य भूखों मर जाते थे। प्रतापनारायण मिश्र ने खिन्न होकर क्षोभपूर्ण शब्दों में देशवासियों का इस गम्भीर समस्या की ओर ध्यान दिलाया है और 'स्वतन्त्रता' की आवाज़ उठाई है :

'सर्बसु लिए जात अंगरेज,
हम केवल 'ल्यकचर' के तेज।
श्रम बिन बातें का करती हैं।
कहुँ टेंटकन गाजैं टरती हैं॥१८॥
अपनो काम आपने ही हाथ भल होई।
परदेशिन परधर्मिन ते आशा नहिं कोई॥

---

१. 'सर सैयद का बुढ़ापा' (१८९०) पृ० ५८,६२

धन धरती जिन हरी सु करिहैं कौन भलाई।
'जोगी काके मीत कलंदर केहि के भाई॥'१६॥
सब तजि गहौ स्वतन्त्रता नहिं चुप लातैं खाव।
'राजा करै सो न्याव है पासा परै सो दाँव॥'२०॥'[1]

'स्वतन्त्रता' की पुकार लगाने वाले इन राष्ट्रीय कवियों के अतिरिक्त ऐसे कवियों का भी अभाव नहीं था जिन्होंने उदार नीति का अवलम्बन किया। 'प्रेमधन' जैसे कवियों ने हमेशा बड़े आदर और भक्ति के साथ सरकार के सामने अपनी माँगें रक्खीं। वे भी चाहते थे कि भारत की निर्धनता दूर हो, भारी-भारी टैक्स हटा दिए जायँ और भारत में उद्योग-धन्धों का प्रसार हो। परन्तु वे भारतेन्दु की भाँति निर्भीक, स्पष्टवक्ता, और बालमुकुन्द गुप्त और प्रतापनारायण मिश्र की भाँति कड़क कर आवाज़ उठाने वाले नहीं थे। 'धन बिदेस चलि जात' का भारतेन्दु कारण बताते हैं :

'कल के कल बल छलन सो छले इते के लोग।
नित नित धन सों घटत है बाढ़त हैं दुख सोग॥
मारकीन मलमल बिना चलत कछू नहि काम।
परदेशी जुलहान कै मानहु भये गुलाम॥
वस्त्र काँच कागज कलम चित्र खिलौने आदि।
आवत सब परदेस सों नितहिं जहाजन लादि॥
इत की रूई सींग अरु चरमहि तित लै जाय।
ताहि स्वच्छ करि वस्तु बहु भेजत इतहि बनाय॥
तिनही को हम पाइ कै साजत निज आमोद।
तिन बिन छिन तृन सकल सुख, स्वाद विनोद प्रमोद॥
कछु तो वेतन में गयो कछुक राज-कर माँहि।
बाकी सब ब्यौहार में गयो रह्यो कछु नाँहि॥
निरधन दिन दिन होत है भारत भुव सब भाँति।
ताहि बचाइ न कोउ सकत निज भुज बुधि-बल कांति।
यह सब कला अधीन है तामै इतै न ग्रन्थ।
तासों सूझत नाहिं कछु द्रव्य बचावन पन्थ॥'[2]

इसलिए वे कहते थे :

---

१. 'लोकोक्ति शतक' (१८८८), पृ० ३

२. 'हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान' (१८७७), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, ५७-६४, पृ० ७३५-७३६

'बनै वस्तु कल की इतै मिटै दीनता-खेद ।।'[1]
'राजनीति समझैं सकल पावहिं तत्व विचार ।।'[2]

टैक्स, मँहगी आदि भारतीय निर्धनता के अन्य कारणों पर भी उन्होंने विचार किया है, यद्यपि ऐतिहासिक की भाँति वे समस्त कारण ध्यान में न रख सके। स्वदेशी-प्रचार और भारत की औद्योगिक उन्नति उन्हें कितनी प्रिय थी, यह भी इन पंक्तियों से प्रकट होता है। किन्तु सरकारी निरंकुशता के आगे उनकी आकांक्षाएँ अपूर्ण रह जाती थीं। लॉर्ड लिटन के अनुदार शासन से प्रजा असंतुष्ट थी। इसके विपरीत यदि रिपन जैसा कोई उदार शासक हुआ तब तो उनकी राज्य-भक्ति और गुणगान का स्रोत फूट पड़ता था। रिपन की लोकप्रियता अँगरेज़ी शासन के इतिहास में अमर रहेगी। भारतेन्दु तथा अन्य कवियों ने उन्हें 'उदार', 'भारतहितकारी', 'जन-शोक-बिदारी', 'सत्यपथ-पथिक', 'मुद्रा-स्वाधीन-करन', 'भृत्य-वृत्तिप्रद', 'प्रजा-राज्य स्थापन-करन', 'हरन दीन भारत-विपद', 'भारत बासिहि देन नव-महान्यायपति प्रथम पद', 'हिंदू उन्नति-पथ अवरोध-मुक्त-कर', 'कर-बंधन मंथन कर', 'जन-सिच्छन-हेत समिति-सिच्छा-संस्थापक', 'सेतासेत बरन सम संमत मापक', 'भारत-शिल्पोन्नति-करन', 'प्रजा-वत्सल', 'सत्य-प्रिय', 'भारत-नव-उदित-रिपन-चन्द्रमा' आदि कह कर उनका जयगान किया है। वास्तव में, जैसा कि सर सुरेंद्रनाथ बनर्जी ने कहा है कि, ब्रिटिश साम्राज्य की छत्रछाया में रहने का ध्येय सामने रख कर ही अँगरेज़ी नीति का समर्थन या विरोध—वह भी सविनय—करना तत्कालीन भारतीय नेताओं का सिद्धांत था। वे उदार नीति का पालन करते थे क्योंकि उग्र नीति को वे निष्फल और भयावह परिणामों से परिपूर्ण समझते थे। वे अपने को ब्रिटिश साम्राज्य की संतान कहलाने में गर्व की बात समझते थे। ऐसी दशा में वैध आन्दोलन में उनका विश्वास होना स्वाभाविक था। वे प्रतिनिधि शासन चाहते थे जिसमें भारतवासियों (विशेषतः हिन्दुओं) का प्रधान भाग हो। जो भारत-सचिव या वाइसरॉय उनकी इन आकांक्षाओं से सहानुभूति रखता था उसे लोकप्रिय होने में देर न लगती थी। रिपन से पहिले बेंटिंक इसी प्रकार के गवर्नर-जनरल थे। उस समय भारत-सचिव या वाइसराय की भारत की आकांक्षाओं के प्रति सहानुभूति या उदासीनता अथवा वैपरीत्य के अनुकूल ही भारतीय राजनीतिक विचारों में ज्वार-भाटा आया करते थे। हिन्दी के कवि इसके कोई अपवाद न थे।

---

१. वही, ६९, पृ० ७३६
२. वही, ७० पृ० ७३६

अन्त में विदेशी धर्मावलंबी मुसलमान और अँगरेज़ शासकों की तुलना करते हुए उन्होंने जो कुछ लिखा है उसका उल्लेख कर देना भी आवश्यक है। इससे उनकी विचारधारा पर स्पष्ट रूप से प्रकाश पड़ता है :

'यद्यपि उस उर्दू शैर के अनुसार 'बाग़बां आया गुलिस्तां में कि सैयाद आया। जो कोई आया मेरी जान को जल्लाद आया।' क्या मुसलमान क्या अँगरेज़ भारतवर्ष को सभी ने जीता किन्तु इनमें उनमें तब भी बड़ा प्रभेद है। मुसलमानों के काल में शत सहस्त्र बड़े-बड़े दोष थे किन्तु दो गुण थे। प्रथम तो यह है कि उन सबों ने अपना घर यहीं बनाया था इससे यहाँ की लक्ष्मी यहीं रहती थी। दूसरे बीच-बीच में जब कोई आग्रही मुसलमान बादशाह उत्पन्न होते थे तो हिंदुओं का रक्त भी उष्ण हो जाता था इससे वीरता का संस्कार शेष चला आता था। किसी ने सच कहा है कि मुसलमानी राज्य हैजे का रोग है और अंगरेज़ी राज्य क्षयी का। इनकी शासन-प्रणाली में हम लोगों का धन और वीरता निःशेष होती जाती है। बीच में जाति पक्षपात, मुसलमानों पर विशेष दृष्टि[1] आदि देखकर लोगों का जी और भी उदास होता है। यद्यपि लिबरल दल से हम लोगों ने बहुत सी आशा बाँध रक्खी है पर वह आशा ऐसी है जैसे रोग असाध्य हो जाने पर विषवटी की आशा। जो कुछ हो मुसलमानों की भाँति इन्होंने हमारी आँख के सामने हमारी देवमूर्तियाँ नहीं तोड़ीं और स्त्रियों को बलात्कार से छीन नहीं लिया, न घास की भाँति सिर काटे गए और न ज़बरदस्ती मुँह में थूक कर मुसलमान किए गए। अभागे भारत को यही बहुत है। विशेषकर अँगरेज़ों से हम लोगों को जैसी शुभ शिक्षा मिली है उसके हम उनके ऋणी हैं। भारत कृतघ्नी नहीं है। यह सदा मुक्तकंठ से स्वीकार करैगा कि अँगरेज़ों ने मुसलमानों के कठिन दंड से हमको छुड़ाया और यद्यपि अनेक प्रकार से हमारा धन ले गए किन्तु पेट भरने को भीख माँगने की विद्या भी सिखा गए।'[2]

उनकी आपत्तियों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। वास्तव में आर्थिक पक्ष को छोड़ कर मुसलमानी और अँगरेज़ी राज्यों के प्रति आलोच्यकालीन साहित्य में 'आनन्द-मठ' वाली भावना सर्वत्र व्याप्त है।

---

१. १८५७ से पूर्व अँगरेजों की मुसलमानों पर विशेष कृपा दृष्टि थी। किन्तु उसके बाद पलड़ा पलटा और विद्रोह के कुछ वर्ष बाद हिन्दू उनके कृपापात्र बने। विद्रोह के कुछ वर्ष बाद तक पुरानी व्यवस्था का बना रहना अनिवार्य था।

२. 'बादशाह-दर्पण' (सर्वप्रथम १८८४ में मेडिकल हाल प्रेस, बनारस से मुद्रित), १९१७, खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर द्वितीय संस्करण, भूमिका भाग।

अस्तु, एक ओर तो वे सरकार के सामने अपनी माँगें पेश करते थे, जो प्राय: राजनीतिक हुआ करती था, और मुख्यत: सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में, वे जनता को सुधारने और उसको उन्नति के मार्ग की ओर अग्रसर करने के लिए सदा प्रयत्न करते थे। शुरू में तो इन विविध सुधारवादी आंदोलनों को सार्वजनिक जीवन में इतना महत्व दिया जाता था कि राजनीतिक सभाओं के साथ-साथ सुधारवादी सभाएँ भी हुआ करती थीं। प्राय: नेतागण दोनों प्रकार की सभाओं में भाग लिया करते थे। कुछ लोगों का विचार था कि राजनीतिक कार्यक्रम की अपेक्षा सामाजिक एवं धार्मिक कार्यक्रम को अधिक महत्व मिलना चाहिए, क्योंकि जनता का इनसे सीधा और घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसके विपक्षी दल का विचार था कि राजनीतिक शासन की बागडोर अपने हाथ में लिए बिना सामाजिक और धार्मिक आंदोलनों में समय और शक्ति लगाना व्यर्थ है। विजय अन्त में राजनीतिक पक्षवालों की हुई। किन्तु यह बहुत बाद की बात है। जब तक भारतेन्दु जीवित रहे तब तक राजनीतिक और सामाजिक आंदोलनों का आपस में गठबंधन रहा, वे एक दूसरे के साथ चलते थे। पिछले पृष्ठों में इन बातों की ओर संकेत किया जा चुका है कि अँगरेज़ों के आने से लाभ होने के अतिरिक्त भारत के आर्थिक एवं सांस्कृतिक जीवन को भारी धक्का पहुँचा था। किन्तु उससे लाभ भी अनेक हुए। अध:पतन और विनाश ने समाज के अङ्ग-अङ्ग में प्रवेश कर लिया था। देश में प्रमाद, आलस्य और मिथ्याचार ने घर कर लिया था। सभ्यता और संस्कृति के घातक चिन्ह प्रकट हो गए थे। नवीन धारा के कवि अपने देश की इन दुर्बलताओं और बुराइयों से अनभिज्ञ नहीं थे। अँगरेज़ी राज्य के सुखों की सराहना करने के साथ-साथ देश की पतितावस्था भी प्रमुख रूप से उनके सामने आ खड़ी होती थी। और, जिस समय भारतवर्ष अन्धकार के गर्त में डूबा हुआ था, सौभाग्य से उस समय पश्चिम की एक जीवित जाति के साथ उसका सम्पर्क स्थापित हुआ। फलत: देश में स्फूर्ति और उत्तेजना उत्पन्न होना अवश्यंभावी था। अँगरेज़ों के सम्पर्क से जिन नवीन और उन्नत विचारों का जन्म हुआ उनके प्रकाश में भारतीय जीवन का फिर से संस्कार करने की बात सोचना स्वाभाविक ही था और कुछ हद तक इसके लिए भारतवर्ष में अँगरेज़ों की उपस्थिति आवश्यक और ईश्वर द्वारा प्रेरित समझी गई। अँगरेजी राज्य में भी देशवासियों की निरुद्यमता और उनका आलस्य, पतनोन्मुख संतोष आदि की ओर लक्ष्य करते हुए भारतेन्दु कहते हैं :

> 'अँगरेजहु को राज पाइकै रहे कूढ़ के कूढ़।
> स्वारथ-पर विभिन्न-मति-भूले हिन्दू सब ह्वै मूढ़॥
> जग के देश बढ़त बदि-बदि के सब बाजी जेहि काल।
> ताहू समय रात इनको हैं ऐसे ये बेहाल।'

इस सम्बन्ध में कवियों ने तत्कालीन भारत में प्रचलित निर्धनता, बुभुक्षा, अकाल, महँगी, रोग, बैर, कलह, आलस्य, सन्तोष, खुशामद, कायरता, टैक्स, अनैक्य, यवनों द्वारा देश की दुर्दशा, धार्मिक मतमतांतर, छुआछूत, बाल-विवाह वृद्ध-विवाह, जन्म-पत्र से विधि मिला कर विवाह करना, बहु-विवाह, विधवा-विवाह-निषेध और उससे उत्पन्न व्यभिचार, अशिक्षा और अज्ञानता, रूढ़िप्रियता, समुद्र-यात्रा-प्रतिबन्ध अर्थात् विलायत-गमन-निषेध और फलतः कूपमण्डूक बने रहना, वाह्य संसार से विमुखता, ईश्वर को भूल कर देवी-देवता, भूत-प्रेतादि की पूजा में चित्त देना, धार्मिक कर्मकांड और पाखण्ड, धर्म की आड़ में धर्म-वञ्चकता और व्यभिचार, राजा-महाराजाओं की बुद्धि-बल-हीनता, नारी-विहार, व्यभिचार आदि, अपव्यय, अदालती बुराइयाँ, पुलिस के अत्याचार, फ़ैशन, सिफ़ारिश, घूस, शिक्षितों की बेकारी, पुलीस के कारनामों, सुरा-सेवन, मांस-भक्षण (यहाँ तक कि बीफ़ भी) आदि धार्मिक और सामाजिक प्रवृत्तियों एवं कुप्रथाओं, आचार-विचार-हीनता और नैतिक पतन का अपनी विविध रचनाओं में उल्लेख किया है । पारस्परिक कलह के सम्बन्ध में प्रतापनारायण मिश्र कहते हैं :

"भाय २ आपस में लरैं, परदेसिन के पायन परैं ।
यहै द्वेष भारत शशि राहु, 'घर का भेदिया लङ्का दाहु' ॥१५॥
भायप तनक परस्पर नहिं जहँ, सरल सनेह न हरि चरनन महँ ।
जगत दास कस होंहि न आरज, 'निबर की जुइया सबकै सरहज' ॥१६॥
प्रीति परस्पर राखहु मीत । जइहैं सब दुख सहजहि बीत ।
नहि एकता सरिस बल कोय, 'एक २ मिल ग्यारह होय' ॥१७॥"[1]

अँगरेज़ी-शिक्षित नवयुवकों की ओर संकेत करके कवि कहता है :

"तन मन सो उद्योग न करहीं, बाबू बनिवे के हित मरहीं ।
परदेसिन सेवत अनुरागे, 'सब फल खाय धतूरन लागे' ॥५७॥
दुरबल के नित होहु सहाय, हरि तूठै जग जस ह्वै जाय ।
ताहि सताए श्रमहु अकाथ, 'बकुला मारे पखना हाथ' ॥५८॥"[2]

अन्य कवियों ने धर्म की ग्लानि पर क्षोभ प्रकट करते हुए समाज की 'निजता' बचाने की चेष्टा की । वे किसी का अनुकरण न कर अपने में ही समयानुकूल सुधार करना चाहते थे । राधाकृष्णदास कहते हैं :

'प्रभु हो पुनि भूतल पर अवतरिए ।
अपने या प्यारे भारत के पुनि दुख दारिद हरिए ॥

---

१. प्रतापनारायण मिश्र : 'लोकोक्ति शतक' (१८८८), पृ० २-३
२. वही, पृ० ७

धरमगिलानि होति जब ही जब तब तब तुम वपु धारत।
दुष्टनि हरि साधुन निर्भय करि तबही धरम उबारत॥
महा अविद्या राच्छस ने या देसहिं बहुत सतायो।
साहस पुरुषारथ, उद्यम, धन, सबही निधिन गँवायो॥'

बालमुकुन्द गुप्त भी अपनी ज़ोरदार शैली में कहते हैं :

'पै हमरे नहि धर्म्म कर्म्म कुल कानि बड़ाई।
हम प्रभु लाज समाज आज सब धोय बहाई॥
मेटे वेद पुरान न्याय निष्ठा सब खोई।
हिन्दू कुल-मरजाद आज हम सबहिं डुबोई॥'[1]
'तन्त्र पुराण मन्त्र षट दर्शन वेद लवेद सिधारे।
गीता में लग गया पलीता, कर्म धर्म झक मारे॥
रहे डारबिन, मिल, शेली, लड़कों की रही पढ़ाई।
और रही लड़की की शादी जोरू सङ्ग लगाई॥
रही सड़ी दुर्गन्ध ड्रेन की और दूध में पानी।
चेचक हैजा ज्वर मलेरिया और पलेग निशानी'॥[2]

विशुद्धानन्द सरस्वती के शिष्य कवि शङ्करप्रसाद दीक्षित ने 'विज्ञान बोध' में सनातन धर्म का पक्ष लेकर आर्य समाज की कठोर आलोचना की है। वे अपने को अद्वैत मत का मानने वाला बताते हैं और आर्य समाजियों के प्रचार और शास्त्रार्थ करने के तरीक़ों को बिल्कुल नापसन्द करते हैं। उन्होंने यहाँ तक कहा कि आर्य समाजियों को गो-रक्षा, विधवा-विवाह आदि के सम्बन्ध में बढ़-बढ़ कर बातें बनाने के बजाय अपनी आदतें सुधारनी और याज्ञवल्क्य, शङ्कराचार्य आदि के बताए मार्गों का अनुसरण करना चाहिए। उन्होंने दयानन्द को कलियुगाचार्य और 'सत्यार्थप्रकाश' को 'मिथ्यार्थ-प्रकाश' कहा है। अयोध्यासिंह उपाध्याय ने भी ब्रह्म समाज, आर्य समाज आदि विभिन्न मतों को भारत की उन्नति के लिए घातक माना है। वे सनातत धर्म की दुहाई देते और आर्य समाज को हिन्दू देव-स्थानों और तीर्थों का विनाशक बताते हैं। उनका कहना है :

'ब्रह्मो समाज आरज समाज मतवाले।
कहने ही को बनते हैं भारत वाले॥

---

१. 'राम भरोसा', पृ० ११
२. 'सब जाय', पृ० १५४-१५५

दुनिया भर से हैं इनके ढङ्ग निराले ।
इन लोगों ने अपने ही घर हैं घाले ।।
यह निज मनमानी सदा किया चहते हैं ।
हिन्दू रह कर ही भारत के रहते हैं ।।४।।
हैं बड़ी जाति जितनी जग बीच लखाती ।
उन सबकी हैं जातीय बस्तु दिखलाती ।।
पर इनको हैं जातीय वस्तु नहिं भाती ।
सुनकर के उनका नाम लाज है आती ।।
ये यूरप की बातों ही पर ढहते हैं ।
हिन्दू रह कर ही भारत के रहते हैं ।।५।।
इनका जी श्री गंगे सुनकर जलता है ।
काशी प्रयाग पर क्रोध सब निकलता है ।।
दसमी दीवाली को आसन टलता है ।
श्री रामकृष्ण गुनगान बहुत खलता है ।।
सुनकर पुरान को ये नहीं उमहते हैं ।
हिन्दू रह कर ही भारत के रहते हैं ।।६।।
ये नाहक बिख रस बीच घोल जाते हैं !
ये मिले हुओं को बरबस बिलगाते हैं ।।
ये कलह फूट जन-जन में फैलाते हैं ।
ये रही सही जातीयता नसाते हैं ।।
ये इन बातों में महामोद लहते हैं ।
हिन्दू रह कर ही भारत के रहते हैं । ७।।
अब भी जै श्री गंगे की धुनि अति प्यारी ।
उमगा देती है बीस कोटि नर नारी ।।
देते सुनकर मन्दिर मूरत को गारी ।
है बीस कोटि तन ते कढ़ती चिनगारी ।।
जल भुन कर ये इन बातों को सहते हैं ।
हिन्दू रह कर ही भारत के रहते हैं ।।८।।
ऐ भारत का मुख उज्वल करने वालो ।
सोचो समझो अपना घर देखो भालो ।।
घबरा के पग इधर-उधर मत डालो ।
अपनी मरजादा को धीरज से पालो ।।

हरिऔध धरम बल से सभी निबहते हैं।
हिन्दू रहकर ही भारत के रहते हैं ॥६॥'[1]

सामाजिक तथा धार्मिक जीवन की विडम्बनाओं और ब्राह्मणों का पतन, अभारतीय आचार-विचार, खान-पान-सम्बन्धी निषेध की शिथिलता आदि की ओर लक्ष्य कर कवि कहते हैं :

'सेल गई बरछी गई गये तीर तलवार।
घड़ी छड़ी चसमा भये छत्रिन के हथियार ॥[2]

× × ×

'झूठि मलेच्छन की हहा। खात सराहि सराहि।
और कहा चाहो सुन्यो त्राहि त्राहि प्रभु त्राहि ॥[3]

× × ×

'बाम्हन बने शरीद ईद में यवन जनेऊदार बने रे।
धन्य धन्य! सब मिल भये आरज उन्नति पर तैयार बने रे ॥[4]

× × ×

'खड़ा खड़ा जो मारे धार, सोई करे देश उद्धार।
यह देखो कलियुग के खेल, तागड़ दिन्ना नागर बेल ॥'[5]

× × ×

'क़लिजुग ही कलिजुग छाय रह्यो दिशि चारो।
अब कस न कल्कि अवतार बेगि प्रभु धारो ॥
द्विजबर कुलीन कारज कुलीन के करहीं।
पढ़िबो तजि परदेसिन के पायन परहीं ॥
राकसन हेत गैयाँ अगनित नित मरहीं।
रिषि बंशज लखि २ लाज न कुछु उर धरहीं ॥
ब्रह्मण्य देव गोपाल जो नाम तिहारो।
अब कस न कल्कि अवतार बेगि प्रभु धारो ॥१॥

---

१. 'काव्योपवन', पृ० १६८-१६६
२. बालमुकुन्द गुप्त : 'राम स्तोत्र', पृ० ६
३. ,, : 'राम स्तुति', पृ० ८
४. ,, : 'देशोद्धार की तान', पृ० १२२
५. ,, : वही, पृ० १४३

धन गयो बिलायत बाल व्याह बल खोयो ।
प्रगटे मत कुमत अनेक प्रेम पथ गोयो ।।
सब विधि निजता तजि जन समाज सुख सोयो ।
मूरख न सुनहि बुध वृन्द बहुत दुख रोयो ।।
हे पतित उधारण ! भारत पतित उधारो ।
अब कस न० ।।२।।
कोउ निज नारिन को भार मानसिक मारै ।।
कोउ नर कहाय आचरण तियन के धारै ।।
कोउ मन धन हित धरमहिं बेंचे डारै ।
कोउ हिन्दू ह्वै तुरकी पर तनमन वारै ।।
करलै तिच्छन तरवारि मलिच्छन मारो ।
अब कस न० ।।३।।
रिषि नाहिंन जे सुखदायक पन्थ चलैहैं ।
नहिं रहे बीर जो धर्म हेत कटि जैहैं ।।
कहँ बचे धनिक जो दुख दरिद्र हरि लैहैं ।
अब तो पापी पेटहि के दास सबै हैं ।।
परतापहि केवल तवपद पद्म सहारो ।
अब कस न कल्कि अवतार बेगि प्रभु धारो ।।२०।।[1]
× × ×
'या सताब्दी माँहिं अहै द्विजगन गति जैसी ।
हम जानत जग माँहि आन गति अहै न तैसी ।।
सेवा करत लजात भीख माँगे नहिं पावत ।।
खेती में श्रम होत बनिज में ढंग न आवत ।।
पूज्य बनन की चाह पै न कछु बरता राखत ।
मान चहत मन मांहि पै सदा सबसों माखत ।
अहै कौन सो समय कहा करनो कब चाहै ।
इनको या को ढंग भूलि दोनो बिधिना है ।।
कछु लिखि पढ़ि जहँ जात तहां कुछ ऐसी ठानत ।
जाते देखत ही अरुचि सबै निज मन आनत ।।'[2]

---

१. प्रतापनारायण मिश्र : 'मन की लहर' (१८८५), पृ० २६-३०

१. स्वामी आलाराम सागर संन्यासी : 'नशा खण्डन चालीसा' (१८६६) पृ० १२-१३

'नशे की बिमारी ते उखारी जड़ मतन की,
जटाधारी निराकारी नशे मार डारे हैं ।।
दादू पंथी रामानन्दी मारे हैं कबीर पंथी,
नशे कालवीर से गुलाबदासी हारे हैं ।।
मारे हैं संन्यासी मारे जंगल उदासी मारे,
निर्मल गरीबदासी नशे के जो प्यारे हैं ।।
योगी मारे भोगी मारे रोगी मारे सोगी मारे,
नशाबीर जान नशाबाजों की निकारे हैं ।।१।।'[1]

× × ×

'मात तुम्हारी है गऊ इसको बचाना चाहिये ।
दरदो ग़म रंजो अलम सबसे छुड़ाना चाहिये ।।
यह तुम्हें दूधों दही मक्खन खिवाती और मही ।
इसके एवज़ न गला इसका कटाना चाहिये ।।
शीर के बदले भी सपने में नहीं पाओगे छांछ ।
सोच कर इस काम में अब चित लगाना चाहिये ।।[2]

× × ×

'अँगरेज़ों सँग खाना खाते यह एक बड़ी खुटाई है ।
प्रथम चरण महाराज राज कलयुग की सेना आई है ।।
खेलन लागे जुवा बहुत जन पास न जिनके पाई है ।
प्रभू प्रसाद का नेंम न राखे मींज तमाखू खाई है ।।
हरें पराया धन धन बनके यह नई रीति दिखाई है ।
विप्रन से बंदगी करावें निबल को दीन निचाई है ।।
चोर करें चौकीदारी पानी में पड़े मलाई है ।
ज्वारी तो जौहरी बन गये चुगलन की चुगलाई है ।।'[3]

स्त्रियों में नीलदेवी उनका आदर्श थी। स्त्री-शिक्षा और उन्नति के अतिरिक्त आलोच्यकालीन कवि बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह आदि के विरुद्ध और इस सम्बन्ध में सुधार के पक्षपाती थे। विधवा-विवाह के सम्बन्ध में कुछ मत-भेद था। ये तथा कुछ अन्य समस्याएँ जैसे, विवाह में अपव्यय करना, पंडों-पुरोहितों का महत्व, भूत-प्रेत

१. महाराज नित्यानंद चौबे माथुर : 'कलिराज कथा' (१८६१), पृ० २
२. वही पृ० ६
३. अयोध्यासिंह उपाध्याय : 'काव्योपवन', पृ० १५२

और मसान-सेवा, शिक्षा का अभाव, कूपमण्डूकता, कर्मकाण्ड की प्रधानता आदि, जो समाजियों और असमाजियों दोनों का ध्यान आकृष्ट किए हुए थीं। उदाहरणार्थ, पटना के बाबू महेश नारायण ने अपनी 'स्वप्न'[1] (१८८१) नामक कविता में एक ऐसी विवाह-योग्य लड़की का वर्णन किया है जिसका पिता धन के लोभ से उसका विवाह उसके प्रेमी युवक से न कर एक बुड्ढे के साथ कर देता है। कविता का अन्त है :

'हाय शादी हुई थी
बेहोश मैं जब थी
मैं सोलह बरस की
वह अस्सी बरस के
देख इनको मैं रोती
देख हमको वह हँसते
क्या करो मुझे प्यार करो माता ने बनाया है तुमको हमारी
मैं हूँ अमीर मर जाऊँगा जब तब दौलत होगी हमारी तुम्हारी
मर ही गये वह बिचारे उसी दिन हो गई विधवा पर कुमारी
माता मेरी संतुष्ट हुई और घर लाई वह दौलत सारी
बाद इसके वह ज़िन्दगी मेरी
गमगीर दिल प' एक पहाड़ हुई
पास मेरे नहीं थी मौत आती
वह बेचारी थी हमसे शर्माती
एक बरस ग़म का यों ही बीत गया
पर नहीं दिल हुआ जरा हल्का
एक दिन बैठे क्या ख्याल आया
ख्याल क्या आया एक ज़बाख आया
कि योगिन बन के विभूत रमा और कहके मैं 'हा !'
पितृ गृह से निकली....'

इनमें से कुछ बातें तो पहले से चली आ रही थीं और कुछ उस समय पैदा हो गई थीं। इनसे भारत का सर्वनाश हो रहा था और चारों ओर अंधकार ही अंधकार दिखाई देता था। अँगरेज़ी-शिक्षितों में पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान से

---

१. मुज़फ्फ़रपुर के अयोध्या प्रसाद खत्री द्वारा संगठित और फ्रेडेरिक पिन्कौट द्वारा सम्पादित 'खड़ी बोली का पद्य' (लन्दन, १८८८)। यह कविता १३ अक्तूबर, १८८१ के 'बिहार बन्धु' में प्रकाशित हुई थी।

लाभ उठाकर देश-सेवा में तत्पर होने के स्थान पर वहाँ के आचार-विचारों का अंधानुकरण अत्यधिक प्रचलित हो गया था। वे ऐसी बहुत-सी बातें करते थे जिनसे कट्टर भारतवासियों को ही नहीं, वरन् देशभक्त, नवशिक्षित, उन्नत और उदार एवं प्रगतिशील व्यक्तियों तक को मर्मांतक पीड़ा होती थी। उन्होंने भाषा, धर्म, अपने आचार-विचार, व्यवहार, खाना-पीना, रहन-सहन आदि को योजन दूर अलग रख दिया था। वे 'बाबू बनिवे के हित' तो मरते थे, किन्तु देश-सेवा के नाम से उनके प्राण निकलते थे। अपनी देशी जनता को भी वे घृणा की दृष्टि से देखते थे। भारतेंदु तथा उनके सहयोगियों ने मद्यपान, मांस-भक्षण आदि के विरुद्ध केवल नैतिक भावना से प्रेरित होकर आवाज़ उठाई हो सो बात नहीं। इन तथा अन्य नवोदित बुराइयों से अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो रही थीं और राष्ट्रीय जीवन का ह्रास हो रहा था। बंगाल के हिन्दू कॉलेज के अँगरेज़ी शिक्षितों के उत्पात को कौन नहीं जानता ? अपनी 'प्रगतिशीलता' की झोंक में वे मांस तथा अन्य अभक्ष्य पदार्थ कट्टर हिन्दुओं के घरों में फेंक देते थे। इससे शान्ति भंग होने की बराबर आशंका बनी रहती थी। भारतीय स्वभावतः सहिष्णु होते हैं। वे चाहते थे कि अँगरेज़ी-शिक्षित अपने चाहे कुछ करें, स्वयं उनके जीवन में किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचाई जानी चाहिए। किन्तु अँगरेज़ी-शिक्षितों के व्यवहार से सब समझदार व्यक्तियों को दुःख पहुँचता था। मद्यपान का उस समय इतना प्रचार बढ़ गया था कि शिक्षित लोग शराब न पीने वालों को असभ्य समझते थे। उस समय की सभ्यता की वह 'मूलसूत्र' समझी जाती थी। नशे में चूर होकर वे समाज के लिए संकट पैदा कर देते थे। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, सुरेंद्रनाथ बनर्जी प्रभृति देशभक्तों ने भी पश्चिम के अंधानुकरण से उत्पन्न ऐसी कुप्रवृत्तियों की ज़ोरदार शब्दों में बुराई की थी। एक अँगरेज़ अपनी भाषा, अपने साहित्य, देश और समाज की सेवा करता था, ज्ञान-पिपासा शांत करने के विविध साधन खोज निकालता था, उसमें अदम्य शौर्य और उत्साह था। किन्तु अँगरेज़ी-शिक्षित भारतवासियों में इन गुणों के बदले अपने देश और समाज में न खपने वाली और अहितकारी बातों की प्रबलता पाई जाती थी। इन्हीं सब विषयों की ओर लक्ष्य करते हुए भारतेन्दु ने कहा है :

'लिया भी तो अँगरेजों से औगुन।'

अतएव भारतदुर्दैव के वीरों की देश में चारों ओर तूती बोल रही थी और वे अच्छी तरह 'हिन्दुओं से समझ रहे थे।' छोटे-बड़े, अमीर-ग़रीब, शिक्षित-अशिक्षित सब पर उनका जाल बिछा हुआ था। वे नवयुग के प्रकाश से अपनी उन्नति का मार्ग नहीं खोज पा रहे थे। यह देख कर भारतेन्दु को भारत के सर्वनाश की निश्चय आशा हो गई थी।

हिन्दी साहित्य में नवीन सुधारवादी आन्दोलन आर्य समाज की स्थापना से

पहले ही पाया जाता है। भारतेन्दु के पिता बाबू गोपालचन्द्र और महाराज रघुराज-सिंह हिन्दू समाज में धार्मिक और सामाजिक सुधारों के पक्षपाती थे। स्वयं भारतेन्दु अपने समय के प्रगतिशील व्यक्तियों में से थे। आर्य समाज की स्थापना उनके जीवन-काल में हो चुकी थी। परन्तु उन्होंने इस मत का अवलम्बन नहीं लिया। वे पक्के वैष्णव बने रहे। इतने पर भी उनको दक़ियानूसी कहना कुफ़ के बराबर होगा। वे नवीन जागृति के सच्चे आदर्श थे। आर्य समाज भी एक ज़बरदस्त आन्दोलन था। उससे देश को अत्यन्त लाभ पहुँचा। उसके धार्मिक और सामाजिक विचारों का प्रभाव असमाजी लेखकों की रचनाओं पर भी पड़ा। परन्तु वास्तव में असमाजी लेखक भारतेन्दु को अपना पथ-पप्रदर्शक मानते थे। भारतेन्दु के साथ वे सनातन धर्म में ही सुधार करना चाहते थे। अन्य मतों को वे भारत के हित के लिए घातक समझते थे। इस काल में कोई भी प्रसिद्ध आर्य समाजी कवि नहीं हुआ। वह इसलिए नहीं कि आर्य समाज कोई साधारण आन्दोलन था। वरन् इसलिए कि वह प्रचारात्मक आन्दोलन होने की वजह से गद्य की उन्नति के लिए अधिक अनुकूल था। काव्य-क्षेत्र में आर्य समाजी कवि केवल गो-रक्षा, विधवा-विवाह आदि पर भीड़ को खुश करने वाले अकलात्मक भजन, लावनी आदि लिख पाए। कला का अभाव आर्य समाज में ही नहीं, वरन् संसार के सभी सुधारवादी (Puritanical) आन्दोलनों में पाया जाता है। सुधार-वादी (Puritans) कुछ तो सौन्दर्य भावना को सुख और दुःख की भावना के आश्रित समझ कर कला से दूर भागते हैं; अथवा सत् और असत् से परे भी कोई अनुभव है, इस विचार को नैतिक उद्देश्य से हीन समझ कर उसमें विश्वास नहीं करते।[1]

आलाराम संन्यासी की 'गो उपमा प्रकाशक मंजरी' (१८९२), 'भजन गो रक्षा उपदेश मंजरी' (१८९२), 'भजन प्रतिमा पूजन मण्डन' (१८९४) आदि, महा-वीरप्रसाद नारायणसिंह की 'भगवत चरित्र चन्द्रिका' (१८८८), काशी के नाथ कवि की 'कलियुग पचीसी' (१८९५) जैसी अनेक साधारण रचनाओं को छोड़कर इन सुधारवादी विषयों पर अलग प्रमुख और सम्पूर्ण रचनाएँ अधिक नहीं मिलतीं। भारतेन्दु की 'जैनकुतूहल' (१८७३) और कवि शङ्करप्रसाद दीक्षित की 'विज्ञान-बोध' (१८८८) जैसी रचनाएँ बहुत कम हैं। अधिकांश में स्वतन्त्र रचनाओं में ही सामाजिक और धार्मिक विषयों से सम्बन्ध रखने वाली फुटकर रचनाएँ पाई जाती हैं। उनमें जहाँ अन्य विषय हैं वहाँ सुधारों के विषयों में भी कवियों ने कुछ कह दिया है। जिन समाचारपत्रों में इन विषयों की कविताएँ छपा करती थीं उनकी फ़ाइलें अप्राप्य हैं। अस्तु, इस विषय के अध्ययन का हमारे पास एक ही सहारा रहा जाता है।

---

१. **डॉ० आनन्दकुमारस्वामी** : Hindu View of Art : Theory of Beauty : Dance of Siva (New York. 1918), पृ० ३२-३३

वास्तव में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके सहयोगी अँगरेज़ों से अच्छी-अच्छी, जैसे देशभक्ति, समाज-सेवा आदि और उन बातों के लेने के पक्षपाती थे जिनसे देश अधोगति के गर्त से निकल कर उन्नति-पथ की ओर गतिमान् हो सकता था और साथ ही जो बातें भारतीय चिंता-पद्धति और जीवन में खप सकती थीं। उदाहरणार्थ, निज भाषा-ज्ञान और महत्व पर ज़ोर देते हुए भारतेन्दु कहते हैं कि यद्यपि अँगरेज़ी पढ़ने से अनेक गुण प्राप्त होते हैं, किन्तु उनका अपनी भाषा द्वारा प्रचार करने से ही कल्याण हो सकता है। घर में अपनी स्त्रियों को लोग उस समय अँगरेज़ी नहीं पढ़ाते थे। गुरुजनों से शिक्षा प्राप्त करने पर भी बालकों की प्रधान शिक्षिका माता ही रहती है। उस माता के ज्ञान के लिए हिन्दी परमावश्यक थी। अँगरेज़ी-शिक्षित और निजभाषा-ज्ञान-विहीन व्यक्ति घर से बाहर तो अपनी शान जमा लेते थे, किन्तु घर के व्यवहार में वे निपट अज्ञानी बने रहते थे। या तो 'पतलून पहिन कर साहब बन जाते थे' या मौलवी साहब। इससे अपनी स्त्रियों का भला न कर पाते थे। पतिदेव यदि 'देहरा' पूजते तो स्त्री 'भूत' पूजती थी। इसी से जब तक घर-घर में स्त्री और पुरुष 'विद्या बुद्धि-निधान' न बन जाते तब तक उन्नति की कोई आशा नहीं थी।

कुछ प्रतिक्रियावादी और पुराणपंथी कवियों को छोड़कर भारतेन्दु तथा समय की गति समझने वाले अन्य कवि चाहते थे कि ज्ञान-विज्ञान के प्रकाश में अति का परित्याग कर मध्यम मार्ग ग्रहण करके और साथ ही भारतीयता को बनाए रखते हुए देश राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक, औद्योगिक आदि समस्त क्षेत्रों में उन्नति प्राप्त करे। उनका यही दृष्टिकोण स्वयं भारतीय सुधारवादी आंदोलनों के प्रति था। वे सामाजिक और धार्मिक सुधार चाहते थे, किन्तु अति का परित्याग करते हुए और पश्चिम के चकाचौंध से बच कर भारतीयता की रक्षा करते हुए। क्योंकि वे संगठन और ऐक्य चाहते थे इसलिए अनेक नवीन और सुधार-वादी आन्दोलन उन्हें पसन्द न थे। उन्हें पूर्ण विश्वास था कि आर्य समाज और ब्रह्म समाज द्वारा तीर्थ-स्थानों, पुराणों, मूर्ति-पूजा आदि के खण्डन से देश का कल्याण नहीं हो सकता। उससे मतैक्य के स्थान पर मत-पार्थक्य और अराजकता का प्रचार होगा। लकीर के फ़कीर भी वे बनना नहीं चाहते थे। प्रत्येक कार्य में विवेक और समाज-हित का उन्होंने सदा ध्यान रक्खा। काल की गति से जो भावनाएँ और संस्थाएँ विकृत हो गई थीं उनका भारत और हिन्दुत्व के नाते बुद्धि-पूर्वक पुनर्निर्माण करना उनका ध्येय था। इसीलिए तो अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'ब्राह्मो समाज आरज समाज मत वालों' को यूरोप के ढँग पर बात करने और कलह फूट फैलाने वाले कहा है। विभिन्न मतों को वे रही-सही जातीयता नष्ट करने वाले, रस में विष घोलने वाले और अपनी मर्यादा नष्ट करने वाले समझते हैं। उन्होंने बड़े ज़ोर के साथ कहा है कि 'हिन्दू रह

कर ही भारत के रहते हैं', अन्यथा नहीं। यही रुख अन्य कवियों का भी पाया जाता है। मतों की विविधता और विभिन्नता को वे भारतीय पतन का एक प्रधान कारण मानते थे। अतएव परम्परागत सनातन धर्म में ही काल और परिस्थिति के अनुसार सुधार करने के वे पक्षपाती थे। वे देवी-देवताओं, भूत-प्रेतों की पूजा के विरोधी थे। इनके स्थान पर वे विशुद्ध ईश्वर-ज्ञान का उपदेश देते थे। साथ ही प्राचीन सनातन धर्म के प्रति आर्य समाज की भावना का भी वे ज़ोरदार शब्दों में खण्डन करते थे। सबसे बड़ा दुःख उनको यह था कि 'सब विधि निजता तजि जन समाज सुख सोयो'। पुरातनत्व से एकदम सम्बन्ध न तोड़कर वे समाज के क्रमिक विकास में विश्वास रखते थे। इस विकास की जड़ भी वे भारत-भूमि में ही रखना चाहते थे। अँगरेज़ी शिक्षितों की सामाजिक और धार्मिक अभारतीयता तो उन्हें बिलकुल न सुहाती थी। भारतेन्दु के शब्दों में:

'भारत में एहि समय भई है सब कुछ बिनहिं प्रमान हो दुइ-रंगी।
आधे पुराने पुरानहिं मानें आधे भए किरिस्तान हो दुइ-रंगी॥
क्या तो गदहा को चना चढ़ावैं कि होइ दयानन्द जायँ हो दुइ-रंगी।
क्या तो पढ़ैं कैथी कोठिवलयै कि होइ बरिस्टर धाय हो दुइ-रंगी॥
एही से भारत नाश भया सब जहाँ तहाँ यही हाल हो दुइ-रंगी।
होउ एक मत भाई सबै अब छोड़हु चाल कुचाल हो दुइ-रंगी॥'

वास्तव में जो ध्येय उग्रवादियों का था वही ध्येय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का भी था। किन्तु वे उस ध्येय तक एकदम वेगपूर्वक न पहुँच कर धीरे-धीरे पहुँचना चाहते थे। वैसे भी भारतीय सभ्यता के इतिहास में यहाँ के धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रों में क्रांतिकारी परिवर्तन देखने में नहीं आते। प्राचीन और नवीन का संसर्ग होने पर यहाँ नवीन प्राचीन को प्रभावित कर प्राचीन में मिलते और फलतः प्राचीन को एक नवीन रूप धारण करते देखा गया है। विकासवाद का यही सिद्धान्त भारत की सामाजिक एवं धार्मिक प्रगति का आधार रहा है। भारतेन्दु भी इसी प्रगति-क्रम का अनुगमन करना चाहते थे, और इसीलिए वे उग्रवादियों से सहमत न हो पाते थे, फिर वे चाहे प्राचीन धर्म का ढोंग रचने वाले कूपमण्डूक ब्राह्मण हों या आर्यसमाजी,[1] ब्रह्मसमाजी हों या ईसाइयत का दम भरनेवाले नवशिक्षित भारतीय। सच्चे और वास्तविक हिन्दू धर्म की पुनर्स्थापना ही उनका मुख्य ध्येय था। आलोच्य काल के कवियों की प्रार्थना है:

---

१. 'वर्षा-विनोद' (१८८०), भा० ग्रं०, द्वि०, ना० प्र० स०, ४२, पृ० ५००-५०१। साथ ही 'हरिश्चंद्र-चन्द्रिका', खण्ड ६, संख्या १२-१३, जून-जुलाई, १८७९ में प्रकाशित भारतेन्दु का 'दयानंद सरस्वती' शीर्षक लेख भी देखिए।

'हिय सों नाथ न बीसरै कबहु राम को राज।
हिन्दूपन पै दृढ़ रहै निस दिन हिन्दु समाज।'[1]
'अब मात दया कर देहु बर, लगी रहैं तुम्हरे चरन।
हिय सों न बिसारहिं हम कबहुँ अपनौं साँचो हिन्दुपन॥'[2]

'सांचो हिन्दुपन' शब्द ध्यान देने योग्य हैं।

भाषा और समाज का अटूट सम्बन्ध है। आलोच्य काल में भाषा की समस्या भी राष्ट्रीय आन्दोलन का एक भाग थी। अदालत की भाषा उर्दू हो चुकी थी। जीविका-निर्वाह के लिए लोगों ने उर्दू पढ़ना-लिखना सीखा और उर्दू साहित्य का मनन किया। सरकार की इस नीति से हिन्दी की उन्नति के मार्ग में एक रोड़ा अटक गया। हिंन्दी-भाषियों की संख्या देश में सबसे अधिक रही है। थोड़े-बहुत भेद के साथ वह देश भर में समझी और बोली जाती थी और अब भी वह राष्ट्रभाषा बनी हुई है। इस सार्वदेशिक महत्ता के कारण हिन्दी को राजकीय कार्यों में प्रमुख स्थान मिलना चाहिए था। परन्तु उसे राज्याश्रय प्राप्त न हुआ। इतने पर भी हिन्दी भाषा और साहित्य ने जो उन्नति की है वह उसकी सजीवता की परिचायक है। अँगरेज़ी शिक्षित समुदाय के जन्म से एक और गड़बड़ी उपस्थित हो गई। अँगरेज़ी भाषा शिक्षा का माध्यम थी और अँगरेज़ी साहित्य का अध्ययन बढ़ता जाता था। इससे एक तो भाषा-साहित्य का पठन-पाठन कम हो गया। दूसरे, सरकारी नौकरी ढूँढ़ने वाले अपनी भाषा और साहित्य की ओर से उदासीन हो गए। बहुतेरे तो उसे घृणा की दृष्टि से देखने लगे। अस्तु, हिन्दी पर उर्दूपरस्त और अँगरेज़ीदाँ दोनों की कोपदृष्टि थी। हिन्दी-प्रेमी अपने घर में यह अपमान कैसे सह सकते। मातृभाषा के अनादर से उनके आत्मसमान को ठेस पहुँची। सभी राष्ट्रप्रेमियों ने सरकारी नीति का विरोध किया। और वैसे तो भाषा-सम्बन्धी आन्दोलन बहुत पहले ही शुरू हो गया था, परन्तु १८७४ से जब कि भारतेन्दु ने 'उर्दू का स्यापा' शीर्षक कविता लिखी थी, इस आन्दोलन ने उग्र रूप धारण कर लिया। १८७७ में उन्होंने हिन्दीवर्द्धिनी सभा, प्रयाग की अध्यक्षता में हिन्दी की उन्नति पर पद्य में एक महत्वपूर्ण भाषण दिया—'हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान'। मातृभाषा के द्वारा देश और समाज का कल्याण हो सकता था। अँग-रेज़ी पढ़ने से अनेक लाभ थे। किन्तु उनका प्रचार मातृ-भाषा द्वारा ही हो सकता था। स्त्री-शिक्षा का कार्य भी निज भाषा-उन्नति के बिना पूर्ण नहीं हो सकता था। जिस प्रकार अँगरेज़ों ने अनेकानेक विद्याओं और ज्ञान के ग्रंथ अपनी भाषा में निर्मित तथा दूसरी

---

१. बालमुकुंद गुप्त : 'श्रीराम-स्तोत्र' (१८९६), पृ० ९
२. बालमुकुंद गुप्त : 'लक्ष्मी-स्तोत्र' (१८९७), पृ० ५४

भाषाओं से अनूदित कर अपनी उन्नति की उसी प्रकार भारतवासियों को उनका अनुकरण करना चाहिए। अँगरेज़ी भाषा में अनेक त्रुटियाँ हैं, किन्तु अपनी भाषा जान कर अँगरेज़ उसे नहीं छोड़ते। उसी प्रकार भारतवासियों को अपनी भाषा नहीं छोड़नी चाहिए। प्रत्येक स्थान से गुण ग्रहण कर ही अँगरेज़ 'विद्या के भौन' बने हुए थे। भारतवासियों को भी जो कुछ वे विदेशी भाषा में पढ़ें उसे अपनी भाषा में किए बिना कृतकृत्य नहीं समझना चाहिए। अँगरेज़ तो तुलसी कृत रामायण का आशय भी अपनी भाषा में किए बिना सन्तुष्ट न हुए। संस्कृत के ज्ञान-भण्डार से लोग मातृ-भाषा के माध्यम द्वारा ही लाभ उठा सकते थे। तारों से खबरें किस प्रकार आती हैं, रेल किस प्रकार चलती है, मशीन किसे कहते हैं, तोप किस तरह चलती है, कपड़ा किस तरह बनता है, कागज़ किस विधि से तैयार होता है, क़वायद किस तरह की जाती है, बाँध कैसे बाँधे जाते हैं, फ़ोटोग्राफ़ी किस प्रकार की होती है आदि इन सब बातों का ज्ञान अँगरेज़ी भाषा के माध्यम द्वारा प्राप्त हो सकता था। इसी ज्ञान के अभाव में आर्यगण का दिन-दिन पतन होता जा रहा था। इसी अभाव के कारण विदेशी कपड़े तथा अन्य वस्तुओं का प्रचार होता जा रहा था जिससे देश की निर्धनता बढ़ रही थी। यदि यह ज्ञान, जिस प्रकार अँगरेज़ी में था, अपनी भाषा में भी होता तो शिक्षा का प्रचार होता, देश का धन बचता, लोग राजनीति, अपने देश के आचार-विचार, शिष्टाचार आदि बातें सीखते। वे अपना धर्म पहचानते। इसलिए भारतेन्दु ने दूसरों के अधीन रहना छोड़ कर औरों की भाँति अपनी भाषा द्वारा अपनी उन्नति करने के लिए प्रोत्साहन दिया। अँगरेज़ी ही नहीं संस्कृत, अरबी और फ़ारसी के खुले खजानों से लूट मचाकर निज भाषा भंडार भरने के वे पक्षपाती थे। वे चाहते थे कि विविध विषयों की छोटी-बड़ी किताबें रची जायँ और बाल, वृद्ध, नर-नारी सब ज्ञान-सम्पन्न हों और भारत में फिर से सुप्रभात हो। इस सम्बन्ध में उन्होंने अँगरेज़ों से ही शिक्षा ग्रहण की थी। मातृभाषा का पक्ष ग्रहण कर सरकारी नीति का वे बराबर विरोध करते रहे। राजा शिवप्रसाद अफ़सरों को खुश करने के लिए अपनी भाषा का गला घोट सकते थे। किन्तु भारतेन्दु ऐसा कदापि न कर सकते थे।

उनके बाद प्रतापनारायण मिश्र : 'तृप्यन्ताम्' (१८९१), राधाकृष्णदास : 'मैक-डॉनेल पुष्पांजलि' (१८९७); महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'नागरी ! तेरी यह दशा !!' (१८९८), 'आशा' (१८९८), 'प्रार्थना' (१८९८), 'नागरी का विनय पत्र' (१८९९) और 'कृतज्ञता प्रकाश' (१९००); बालमुकुन्द गुप्त : 'उर्दू को उत्तर' (१९००); श्यामबिहारी और शुकदेव बिहारी मिश्र : 'हिन्दी अपील' (१९००), तथा अन्य अनेक कवि, जैसे पण्डित गौरीदत्त, पण्डित मोहनराय, दीवानाथ पाठकी, पण्डित हरदेवसहाय,

दीनदयाल, घासीराम, महेशदत्त, मौलवी बाक़रअली, मिर्ज़ा साहब[1] आदि मातृभाषा का पक्ष ग्रहण कर सरकार की नीति का बराबर विरोध करते रहे। पश्चिमोत्तर प्रदेश और अवध में यह आन्दोलन बहुत ज़ोरों पर था। प्रायः सभी ने उर्दू भाषा और लिपि की त्रुटियाँ बताई हैं। विदेशी जामा पहने हुए होने के कारण कोई भी राष्ट्रप्रेमी उसको ग्रहण नहीं कर सकता था। और सच पूछा जाय तो हिन्दी-उर्दू का झगड़ा सांस्कृतिक, और भारतवर्ष को अपना देश मानने या न मानने पर है। उर्दू को ज़बर्दस्ती हिन्दी-भाषियों के गले उतारते देखकर राष्ट्रप्रेमियों का विचलित हो जाना स्वाभाविक ही था। इसलिए समस्त हिन्दी-प्रेमियों ने डॉ० हंटर के पास प्रार्थना-पत्र भेजा था कि हिन्दी का छीना हुआ पद उसे फिर वापिस दे दिया जाय।

इन कवियों की रचनाओं से साफ़ ज़ाहिर होता है कि हिन्दी और हिन्दी भाषियों के साथ वास्तव में ज़्यादती की गई थी और उसका उन्हें सच्चा दुःख था। बालमुकुन्द गुप्त की 'उर्दू को उत्तर' शीर्षक कविता में व्यंग्य से भरा हुआ उर्दू को मुँह-तोड़ उत्तर है। प्रतापनारायण मिश्र की 'तृप्यन्ताम्' में तीक्ष्ण व्यंग्य-पूर्ण और 'मन की लहर' में दुःख-भरी बातें सुन कर उर्दूपरस्त शर्म से अपना सिर नीचा किए बिना न रह सकेंगे। और फिर देखा जाय तो उनका उर्दू से झगड़ा नहीं था। वह जैसी थी उसके वैसे बनी रहने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी। वे तो सिर्फ़ यह चाहते थे कि बहुसंख्यक जनता की भाषा होने की वजह से हिन्दी को उसका अधिकार दे दिया जाय। इस सम्बन्ध में उन्होंने अपने मनोभाव दो तरह से प्रकट किए हैं। पहले, उन्होंने उर्दू भाषा की त्रुटियाँ और उसके कुप्रभाव दिखाए हैं। और दूसरे, हिन्दी के दुर्भाग्य पर आँसू बहाए हैं :

'पेट काज सब लोग सिखहिं उरदू अँगरेज़ी।
याते तिन मैं होत तिनहि की ऐसी तेजी।।
चाहत तेरी ओर लाज तिनको बहु लागत।
हिय मैं पीर न तनिक होत तेरो हित त्यागत।।
हम आँखिन हैं लख्यो ऐसहूँ लोगन कांहीं।
जो लखि हिन्दी लेख महा आकुल ह्वै जाहीं।।
फारि फूरि कै तुरत देहिं ताको महि डारी।
पैं हिन्दू सन्तान होन के बर अधिकारी।।
देसनिवासिन की गति ऐसी परत लखाई।
दया जोग सरकार को न तू परी जनाई।।

१. 'देखिए, पं० गौरीदत्त द्वारा सम्पादित 'देवनागरी की पुकार' (१८८३) : 'काव्य मंजूषा' (१९०३) में महावीरप्रसाद द्विवेदी कृत प्रार्थना की तिथि १२ नवम्बर, १८९८ दी है।

ऐसे असमय माँहि अहैं जो बचे बचाये।
इनेगिने द्वै चार हितू तेरो जस छाये।।
× × ×
अबहीं तो भारत सुधार कछु होन न पायो।
कलह फूट अरु बैर अहै चहुँ दिस बहु छायो।।
हित अनहित नहि समझि सकहिं अँगरेजी वारे।
पै संसोधन काज भये डोलहिं मतवारे।।'....[१]

एक और का कथन है :

'कहीं का ईंट कहीं का रोड़ा, इस उर्दू ने कुनबा जोड़ा।
लूट मार के भई अमीर; मुझ दीन के मारे तीर।।
है कोई ऐसा राजा बाबू सत्य-सत्य जतलावेगा।
मेरा घर छीना उर्दू ने फिर मुझको दिलवावेगा।।
इस उर्दू ने घाले घर, इश्क-इश्क कर डूबे नर।
बहार दानिश की पढ़ी किताब, इसको पढ़कर बने नवाब।।
है कोई ऐसा राजा बाबू....
मेरा घर छीना उर्दू....
चटक मटक उर्दू सिखलावे, लपक झपक उर्दू बतलावे।
जिसका उर्दू हो गई यार, धर्म कर्म का नहीं विचार।।
है कोई ऐसा राजा बाबू....'[२]

राय रामगुलाम कहते हैं :

'उर्दू पढ़ि लोगन करी देश की ख्वारी।
की हाय मसनवी मीर हसन की जारी।।
पढ़-पढ़ के जुलैखा बहार दानिश सारी।
पुरुषार्थ का मूल नसाय भये सब नारी।
उर्दू पढ़ हुये निलज्ज लाज नहिं आती।
अब देश दुर्दशा देख फटत है छाती।।
लड़कों को पढ़ाकर इन्दर सभा नचाते।।
पाछे से लगावें ताल न हिया शरमाते।।

---

१. उदाहरण के लिए देखिए, अयोध्यासिंह उपाध्याय : 'शोकाश्रु' ('काव्योपवन', १६०६, पृ० १३३)

२. पं० गौरीदत्त : 'देवनागरी की पुकार', पृ० ६ से उद्धृत

सब भाँति मूर्ख उनका पुरुषार्थ घटाते ।
अपने अरु उनके ऊपर पाप मढ़ाते ।।
हा दई मूर्खता छई न देखी जाती ।
अब देश दुर्दशा देख फटत है छाती ।।
अब शीघ्र यत्न करिये मलिका महरानी ।
हो रही सबै विधि हाय भरत की हानी ।।
कर जोड़े राम गुलाम विनय है सारी ।
भारत की नैया डूबत लेहु उबारी ।।
दिन २ अब छीजत जात भारत हर बाती ।
अब देश दुर्दशा देख फटत है छाती ।।'[1]

भारतेन्दु ने अत्यन्त दुःख के साथ कहा है :

'भाषा भई उर्दू जग की अब तो इन ग्रंथन नीर डुबाइये ।।'

परन्तु इतने पर भी हिन्दी-भाषियों में आशा का संचार कम नहीं हुआ था :

'कल्याणि ! नागरि ! इती बिनती सुनीजै
माता ! दयावति ! दया न कमी करीजै ।
हूजै अधीर जनि, यद्यपि होति देरी
सेवा अवश्य करिहैं अब सर्व तेरी ।।२०।।

× × ×

'अहो देवि आशे ! प्रशंसा तिहारी
सकै कै यथावत् न जिह्वा हमारी ।
मही मण्डल व्योम पाताल माहीं
कहाँ शक्ति न व्याप्त तेरी सदा हीं ?'

× × ×

'गुणग्राम की आगरी नागरी है
प्रजा की जु सन्मान जो जागरी है ।
मिले ताहि राजाश्रय क्षेमकारी
यही पूरियौ एक आशा हमारी ।।२१।।'[2]

भीषण उद्योग और आन्दोलन के फलस्वरूप पश्चिमोत्तर प्रदेश के लेफ़्टिनेंट-गवर्नर सर ऐंटनी मैकडॉनेल ने अदालत में नागरी-प्रवेश की घोषणा प्रकाशित की । लाट साहब के इस कार्य की सभी हिन्दी-प्रेमियों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है :

---

१. राय राम गुलाम : 'सद्धर्मरत्नमाला' (१८८६), पृ० १३-१४

२. महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'नागरी ! तेरी यह दशा !!' (१८९८)

'धन मेकडानेल लाट प्रजा के दुःख निवारे ।
कचहरिया लीला सों सब के प्रान उबारे ।।
धन उनइस सौ सन धन धन यह मास एपरिल ।
धन तारीख अठारह जन-हिय-कमल गए खिल ।।
जब लौं हिंदू हिंदी रहें यह शुभ दिन न बिसारिहैं ।
मेकडानेल नाम पवित्र यह नित सादर उच्चारिहैं ।'[1]

परन्तु व्यावहारिक रूप में उनका घोषणा-पत्र नहीं के बराबर रहा है ।

अब तक हिन्दी काव्य में संस्कृत की प्रणाली पर प्रकृति-वर्णन होता आ रहा था । परन्तु हिन्दी कवियों में उसकी विशेषताएँ नहीं पाई जातीं । उन्होंने संस्कृत के पिछले कवियों के अनुकरण पर शृंगार के अन्तर्गत केवल उद्दीपन की दृष्टि से प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों का उल्लेख किया है । घुमा-फिरा कर सब कवियों ने कुछ प्राकृतिक वस्तुओं के नाम भर गिना दिए हैं । उससे न तो प्रकृति के प्रति कवि के भावों का पता चलता है और न पाठक के सामने प्रस्तुत दृश्य स्पष्ट ही हो पाता है । उनका प्रकृति-वर्णन राजमहलों के बागों और उपवनों तक सीमित है । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र मानव-प्रकृति के कवि थे । पण्डित रामचन्द्र शुक्ल का कहना ठीक है कि प्रकृति की ओर उनका ध्यान आकृष्ट न हो सका । उनकी रचनाओं में जो प्रकृति-वर्णन मिलते हैं वे केवल परम्परा का पालन मात्र हैं । उनमें उनका हृदय स्पष्ट नहीं झलकता । परन्तु हिन्दी काव्य की नई धारा से विकास के साथ कवियों का प्रकृति-वर्णन भी कुछ स्वाभाविक हो चला था । अब वे नायक-नायिकाओं के सुख-दुःख में रंग कर प्राकृतिक वस्तुओं के नाम भर नहीं गिनाते थे । उन्होंने प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण कर उसका अत्यन्त सुन्दर उद्घाटन किया है । प्रकृति-वर्णन का यह स्वतन्त्र रूप बालमुकुन्द गुप्त, प्रतापनारायण मिश्र, ठाकुर जगमोहन सिंह आदि कवियों की रचनाओं में पाया जाता है । परन्तु श्रीधर पाठक की रचनाओं में उसके विशेष रूप से दर्शन होते हैं । उनकी 'वसन्तागमन' (१८८१), 'वसन्त राज्य' (१८८१), 'वसन्त' (१८८३), 'हिमालय' (१८८४), 'मेघागमन' (१८८५), 'सरस वसन्त' (१८८५), 'घनाष्टक' (१८८६), 'हेमन्त' (१८८७), 'शरदसमागत स्वागत' (१८९९), 'धन-विजय' (१८९९), 'गुणवन्त हेमन्त' (१९००), 'नव वसन्त' (१९००) जैसी कविताओं में अत्यन्त सुन्दर प्राकृतिक दृश्य-विधान मिलता है, जैसे,

'उज्जल ऊँचे सिखर दूर देसन लों चमकत
परत भानु-नव-किरन प्राप्त सुवरन सम दमकत

---

१. राधाकृष्णदास : 'मेकडानेल पुष्पांजलि' (१८९७)

लता पुहुप बनराजि, सदा ऋतुराज सुहावत
हरी भरी डहडही वृच्छ-माला मद भावत
कोकिल कीर कदम्ब, अम्ब चढ़ि गान सुनावत
श्याम चारु सुगीत मधुर सुर पुनि पुनि गावत
कहुँ हारीत कपोत कहूँ मैना लखि परियत
कहुँ खेचर वर कहुँ चकोर के दरसन करियत
देवदार की डार कहूँ लंगूर हिलावत
कहुँ मर्कट को कटक वेग सो तरु-तरु धावत
विकसित नित नव कुसुम तरुन तरु मुकुलित बौरत
अलबेले अरविन्द कठिन के ढिग ढिग झौरत
झरना जहँ तहँ झरत करत कल छर छर जलरव
पियत जीब सो अम्बु अमृत-उपमा हिम सम्भव
पवन सीत अति सुखद बुझावत बहु विधि तापा
बादर दरसत, परसत, बरसत, आपहि आपा।'[१]

अथवा

'बीता कातिक मास शरद का अन्त है
लगा सकल-सुख-दायक ऋतु हेमन्त है
ज्वार बाजरा आदि कभी के कट गये
खल्यान के काम से किसान निपट गये
थोड़े दिन को बैल परिश्रम से थमे
रब्बी के लहलहे नये अंकुर जमे
जमींदार की मिली उगाही खेत की
मूल ब्याज सब दैन महाजन की चुकी
उसके घर आनन्द हर्ष सुख मच रहा
खाने भर को जिस किसान को बच रहा
जिनको कुछ नहीं बचा, काम को टो रहे
किस्मत को दे दोष बैठ घर रो रहे
ख़रीफ के खेतो में अब सुनसान है
रब्बी के ऊपर किसान का ध्यान है
जहाँ तहाँ रहट परोहे चल रहे

---

१. श्रीधर पाठक : 'हिमालय'

बरहे जल के चारों ओर निकल रहे
जौ गेहूँ के खेत सरस सरसों घनी
दिन दिन बढ़ने लगी विपुल शोभा सनी
सुघर सौंफ सुन्दर कसूम की क्यारियाँ
सोआ, पालक, आदि विविध-तरकारियाँ
अपने अपने ठौर सभी ये सोहते
सुन्दर सोभा से सबका मन मोहते....'[१]

ऐसे वर्णनों में प्रकृति का सूक्ष्म और सुन्दर निरीक्षण पाया जाता है। कवि मानव को भी प्रकृति का अंग मान कर आगे बढ़े हैं। शृंगारी कवियों का प्राकृतिक वस्तु-ज्ञान किताबी और परम्परानुगत था। उपर्युक्त जैसे वर्णन सीधे और सुन्दर हैं। उनमें उपमा और उत्प्रेक्षा की भरमार से प्राकृतिक दृश्य अस्पष्ट नहीं हो गया। संस्कृत और अँगरेज़ी काव्य के अध्ययन के फलस्वरूप हिन्दी कवियों ने इस ओर ध्यान देना आरम्भ कर दिया था। श्रीधर पाठक पर गोल्डस्मिथ की 'हर्मिट' (Hermit) और 'डेज़र्टेड विलेज' (Deserted Village) में दिए गए प्रकृति-वर्णन का बहुत प्रभाव पड़ा है। और यद्यपि उनकी 'मेघागमन' जैसी कुछ रचनाओं से प्रकृति-वर्णन के भीतर छिपी हुई उनकी भावनाओं और उनके निजी व्यक्तित्व पर प्रकाश पड़ता है, जो स्पष्टतः यूरोपीय प्रभाव है, तो भी उनके वर्णन संस्कृत के प्राचीन कवियों की प्रणाली पर प्रकृति के स्वतन्त्र रूप का दर्शन ही अधिकतर कराते हैं और शृंगारी कवियों की परम्परानुगत शुष्क और नीरस वस्तु-गणना मात्र से बहुत परे हैं। गोल्डस्मिथ की शैली पर प्रकृति-वर्णन में उन्होंने मानव-अनुभूतियों का भी ध्यान रक्खा है। 'मेघागमन' में मेघों का वर्णन करते समय वे बाल-विधवा के मन के भावों को नहीं भूले :

'नाना कृपाण निज पाणि लिये—वपुनील वसन परिधान किये
गम्भीर घोर अभिमान हिये—छकि पारिजात मधुपान किये
छिन-छिन निज जोर मरोर दिखावत
पलपल पर आकृति कोर झुकावत
बनराह बाट श्यामता चढ़ावत
वैधव्य बाल बामता बढ़ावत
यह मोर नचावत, शोर मचावत, स्वेत-स्वेत बगपंति उड़ावत
सीतल सुगन्ध, सुन्दर अमंद, नन्दन प्रसून मकरन्द विन्द
मिश्रित समीर बिन धीर चलावत

१. श्रीधर पाठक : 'हेमन्त' ('मनोविनोद' १९१७ सं० पृ० ७४-७५)

अंधियार रात, हाथ न दिखात, बिन नाथ बाल बिधवा डरात
तिन के मन मंदिर आग लगावत
छिन गर्जि-गर्जि पुनि लर्जि-लर्जि, निज सेन सिखावत तर्जि-तर्जि
दुन्दुभी धरणि आकाश लचावत
मल्लार राग गावद विहाग, रस प्रेम पाग, अहो धन्य भाग
सुख पावत आवत मेह महावत'

इस प्रकार आलोच्य-काल में हिन्दी के प्रकृति-वर्णन का फिर से संस्कार होने का पता चलता है।

प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण और सुन्दर दृश्य-विधान के साथ-साथ कविता की नवीन धारा में वर्णनात्मक शक्ति का भी अच्छा परिचय मिलता है । जिस प्रकार एक चित्रकार किसी वनस्थली का सुन्दर चित्रण करता है, उसी प्रकार इन कवियों ने वनस्थली के या अन्य वर्णन बड़े सच्चे और सुन्दर रूप में किए हैं, जैसे,

'कोसों तक का जंगल है और हरी घास लहराती है।
हरियाली ही दीख पड़ै है दृष्ट जहाँ तक जाती है ॥
कहीं लगी है झड़बेरी और कहीं उगी है ग्वार।
कहीं खड़ा है मोठ बाजरा कहीं घनी सी ज्वार ॥
कहीं पै सरसों की क्यारी है कहीं कपास के खेत घने।
जिसमें निकलें मनो बिनौले अथवा धड़ियों खली बने ॥
मूँग मोंठ की पड़ी पतोरन और चने का खार।
कहीं पड़े चौले के डंठल कहीं उड़द का न्यार ॥
कहीं सैकड़ों मन भूसा है कहीं पे रक्खी सानी है।
कच्चे तालाबों में आधा कीचड़ आधा पानी है ॥
धरी हैं वां भीगे दाने से भरी सैकड़ों नांद।
करते हैं भैंसे और भैंसें उछल कूद और फांद ॥'[1]

इसी प्रकार एक साधारण सी बात का कवि इस प्रकार वर्णन करता है :

'क्या ज़ोर ज़ुल्म जालिम वृजराज तेरे बन्दर ॥
शैहतान सबसे आला हैं मधुपुरी के बन्दर ॥१॥
पगड़ी उतार टोपी कपड़ों को फाड़ते हैं ॥
बासन बनात पोथी बटुआ कौ दौड़ते हैं।
कर खूब ज़ोर दस्ती होते हैं घर के अन्दर ॥क्या० २

१. बालमुकुन्द गुप्त : 'भैंस का स्वर्ग' ('स्फुट कविता', १९१९, पृ० १०६-१०७)

एक नाज़नी मकां पर सोती पलंग् बिछायें ।।
बेहोश थी विचारी जिसको न कुछ भी भायें ।।
बाली उतार भागे हल्ला हुआ इकंदर ।।क्या० ३
गर दस्त देखैं खाना खाने पे टूटते हैं ।।
हाकिम हजूरे वोंही बाजार लूटते हैं ।।
इज्जत उतार लेवैं करते हैं होश मंदर ।।क्या० ४
परदे को फोड़ उसकी ईटैं निकाल पटकैं ।।
छज्जे को फोड़ उसके टोढ़े को फोड़ सटकैं ।।
छपरा बचें न खपरा वो-टापरा न मन्दर ।।क्या० ५
चाहै जिसे गिरादें हर किस्म काट खाते ।।
तौड़े हैं फूलवाडी पत्ते चमन फलंदर ।।क्या० ६
पहलै तौ इन् को तूने नवनित यार पाले ।।
रहने के मधुपुरी में अब पड़ रहे हैं लाले ।।
सुनले अरज इंनौ की छुटे न ये वतन दर।।' क्या० ७[1]

अनेक अन्य विषयों के भी ऐसे ही वर्णन मिलते हैं। शृंगारी कवियों की रचनाओं में ऐसे मनोरम दृश्य कहाँ! नई धारा के कवियों के समीप समस्त जीवन-क्षेत्र काव्य का का विषय बन गया था। इसीलिए उसमें स्फूर्ति है, सजीवता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि हिन्दी की काव्य-धारा पुरानी परिपाटी को छोड़ कर देश-काल की परिस्थितियों के अनुसार नए क्षेत्रों और विषयों की ओर मुड़ रही थी। विषयों का चयन बिल्कुल नया है। राजनीतिक जागृति और सामाजिक एवं धार्मिक सुधारों के उत्साह की अभिव्यक्ति तथा नवीन काव्य-शक्ति के परिचय के अतिरिक्त हमें कविता के नए रूप में और भी अनेक नए-नए विषय मिलते हैं। उसमें विस्तृत दृष्टिकोण के फलस्वरूप नवीन भावों का विशेष प्राबल्य मिलता है। काव्य के इस नवीन युग के आरम्भ में ही श्रीधर पाठक की 'जगत सचाई सार' (१८८७), रत्नसहाय और वजहन कृत 'अलिफ़नामा' (१८८८) और माधवदास द्वारा उसका उत्तर 'निर्भय अद्वैत सिद्ध' (१८९९), रामचन्द्र त्रिपाठी की 'विद्या के गुण और मूर्खता के दोष'[2] शीर्षक कविता आदि रचनाओं में दार्शनिक विवेचन, भारतेन्दु कृत 'दग़ाबाज़ी का उद्योग'[3] आदि में ऐतिहासिक सत्य की खोज, श्रीनिवासदास कृत

१. माथुर नवनीति : 'प्रेमरत्न' (१८८५), पृ० १५
२. दे० वीरेश्वर चक्रवर्ती द्वारा सम्पादित 'साहित्य संग्रह' (१८८६)
३. वही

'ब्रसेल्स की लड़ाई'[1] में अन्तर्राष्ट्रीय, राधाचरण गोस्वामी कृत 'दामिनी दूतिका' (१८८२) में वैज्ञानिक (तार) जैसे उच्च विषयों से लेकर श्रीधर पाठक कृत 'म्युनिसि-पेलिटी-ध्यानम्' (१८८४), बालमुकुन्द गुप्त कृत 'प्लेग की भूतनी' (१८६७) और 'ज़नाने पुरुष' (१८६८), महावीरप्रसाद द्विवेदी कृत 'मांसाहारी को हंटर' (१६००) और अयोध्यासिंह उपाध्याय कृत 'बन्दर', 'कोयल'[2] आदि जैसे हास्य और व्यंग्यपूर्ण, सरल, साधारण और बालोपयोगी कविता के आलम्बन और विषय हमारे सामने आने लगते हैं। कविगण राज-दरबारों के विलासपूर्ण वातावरण से बाहर निकल कर और काव्य की पुरानी प्रणाली छोड़कर जीवन-व्यापी भिन्न-भिन्न विषयों, व्यापारों और प्रणालियों का अनुसरण करने लगे। ऐतिहासिक और सामाजिक परिस्थितियों का उन्होंने पूरा ध्यान रक्खा है। ज्ञान-संचय की प्रबल आकांक्षा लेकर वे बढ़े। सत्य और नीर-क्षीर-विवेक ग्रहण कर उन्होंने देश की मानसिक प्रगति के मार्ग और उसके भावी जीवन को प्रशस्त आधार-शिला का निर्माण किया।

अन्त में यह भी सूचित कर देना आवश्यक जान पड़ता है कि कुछ रचनाओं को छोड़कर जिनमें स्थायित्व गुण हैं, आलोच्य काल में सामयिक कविताओं की ही धूम रही। कवियों ने अपनी रचनाओं में राजनीतिक और सामाजिक आन्दोलनों का अधिकतर अनुसरण किया है। उनमें तत्कालीन भावों और विचारों के प्रचार का प्रबल उद्योग है। हमारे कवि स्वयं विविध आन्दोलनों में सक्रिय रूप से भाग लेते थे। फलतः उनमें कवित्व-शक्ति या काव्यानुभूति का पूरा विकास नहीं पाया जाता। और विकास के प्रथम चरण में यह संभव नहीं था। परन्तु इससे इस काव्य-साहित्य का महत्व किसी प्रकार कम नहीं हो जाता। उसका महान् ऐतिहासिक महत्व है, उसमें नवयुग की झलक है और उसी ने काव्य को आधुनिक विचारधारा की ओर प्रवृत्त किया।

अँगरेज़ी शिक्षा का देश में प्रचार हो चुका था। हिन्दी के साहित्यिक अँगरेज़ी भाषा के ग्रन्थ पढ़-पढ़ कर हिन्दी की श्रीवृद्धि करने में लग गए। श्रीधर पाठक का नाम इस ओर विशेष आदर के साथ लिया जा सकता है। उन्होंने सोचा कि अब राधा-कृष्ण के कल्पना-संभूत विलास-वैभव की गाथा गाने के बजाय जीवन-सम्बन्धी मानव-अनुभूतियों को साहित्य में व्यक्त करना अधिक श्रेयस्कर होगा। उन्होंने स्वयं ऐसे काव्य की रचना की जिसमें नायक-नायिका की प्रेम-लीला नहीं, वरन् मानव-जाति का दुःख, दारिद्रय, प्रेम और सहानुभूति है। हिन्दी में सुन्दर और कलापूर्ण रचनाओं का अभाव देखकर उन्होंने पाठकों के सामने ऐसी रचनाएँ रखनी चाहीं जो

१. दे० 'इण्डियन ऐंटिक्वेरी', १६११
२. 'काव्योपवन'

सरल, सुन्दर और यथार्थ जीवन का चित्रण करने वाली हों, जिनमें वे अपने हृदय की समस्त भावनाएँ देख सकें। अतः उन्होंने अँगरेज़ी के कवि गोल्डस्मिथ के 'हर्मिट' (Hermit) का 'एकान्तवासी योगी' (१८८६) और 'डेज़र्टेड विलेज' (Deserted Village) का 'ऊजड़ ग्राम' (१८८९) के नाम से हिन्दी में अनुवाद किया। विषय और शैली की दृष्टि से उन्होंने ये दो बड़े अच्छे नमूने हिन्दी साहित्यिकों के सामने रक्खे। अनुवाद अत्यन्त सुन्दर हुए हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने 'गड़रिया और आलिम' (१८८४), लौंगफ़ेलो कृत 'इवंजलाइन' (Evangeline, १८८६) और पारनेल कृत 'हर्मिट' (१८९५) का भी अँगरेज़ी से अनुवाद किया। वास्तव में काव्य के क्षेत्र में श्रीधर पाठक की रचनाओं में नवीन अध्ययन के फलस्वरूप उत्पन्न नवीन साहित्यिक दृष्टिकोण का सर्वोत्तम उदाहरण मिलता है। १८७६ में मानपुरा, ज़िला मुज़फ्फ़रपुर के बाबू लक्ष्मीप्रसाद ने गोल्डस्मिथ के 'हर्मिट' का खड़ीबोली में अनुवाद किया जिसे बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री ने अपने 'खड़ीबोली का पद्य' (१८८८ का लंदन संस्करण) नामक संग्रह में बड़ी खुशी के साथ सम्मिलित किया। कवि ने कथा को भारतीय आवरण दे दिया है। १८९७ में आबू के 'विद्यारसिक' ने ग्रे की 'एलेजी' (Elegy) का 'ग्रामस्थ-शवागार-लिखित-शोकोक्ति' के नाम से अनुवाद किया। 'रत्नाकर' ने पोप की रचना का 'समालोचनादर्श' के नाम से हिन्दी अनुवाद (१८९७ की 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में) प्रकाशित किया। ग्रे की 'एलेजी' की प्रणाली पर हिन्दी में भी शोकपूर्ण कविताएँ लिखी जाने लगीं। हरिश्चन्द्र, श्रीधर पाठक, प्रतापनारायण मिश्र और अम्बिकादत्त व्यास की मृत्यु पर क्रमशः श्रीधर पाठक, महावीरप्रसाद द्विवेदी, अयोध्यासिंह उपाध्याय और बालमुकुन्द गुप्त, और श्रीनगर के राजा कमलानन्द सिंह ने सुन्दर शोकपूर्ण कविताएँ लिखी हैं।

फ़ोर्ट विलियम कॉलेज ने हिन्दुस्तानी या उर्दू को आश्रय दिया था। १८३७ में फ़ारसी के स्थान पर उर्दू अदालती भाषा हो गई। उससे उर्दू भाषा और साहित्य की काफ़ी उन्नति हुई। लेकिन हिन्दी के लिए कुछ नई समस्याएँ पैदा हो गईं। जीविका-निर्वाह के लिए लोग उर्दू सीखने-पढ़ने लगे। उर्दू के साथ-साथ खड़ीबोली हिन्दी ने विशेष उन्नति कर ली थी और वह गद्य की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। परन्तु उसको राज्याश्रय प्राप्त न हो सका। इधर साहित्य में खड़ीबोली का प्रचार हो जाने पर भी ब्रजभाषा का आधिपत्य जमा हुआ था। साहित्य में दो-दो भाषाओं के व्यवहार से एक बड़ी भारी झंझट पैदा हो गई। दोहरी मेहनत बचाने के लिए मदरसों में लड़के हिन्दी की जगह उर्दू पढ़ने लगे। इससे हिन्दी की प्रगति को धक्का पहुँचा और भविष्य में अधिक पहुँचने की आशंका थी। भारतेन्दु के समय में जिस प्रकार साहित्य में नए-नए विषयों का प्रवेश हुआ उसी प्रकार काव्य-क्षेत्र में खड़ीबोली और ब्रजभाषा का प्रश्न भी उठा। स्वयं भारतेन्दु का ध्यान इस

ओर गया था और खड़ीबोली में उन्होंने कुछ कविताएँ लिखीं भी :

'कहाँ हो, ए हमारे राम प्यारे !
किधर तुम छोड़ मुझको सिधारे ?
बुढ़ापे में य' दुख भी देखना था ?
इसी के देखने को मैं बचा था ?
छिपाई है कहाँ सुन्दर वह मूरत ?
दिखा दो सांवली सी मुझको सूरत ?
छिपे हो कौन से परदे में बेटा !
निकल आओ कि अब मरता है बुड्ढा ।'

—'दशरथ विलाप'

'फागुन के दिन बीत चले अब ऋतु बसंत आई,
बदला समा चली झोंके से झकीपुरवाई ।
गर्मी आगम दिखलाये रात लगी घटने,
कुहू कुहू कोयल पेड़ों पर बैठ लगी रटने ।
पक चले धान, पान पड़े पीले आम भी बौराने,
हुई पतझार, लगे कोपल पत्ते फिर आने ।
ठंढा पानी लगा सुहाने, आलस तन आई;
फूले सरिस फूल की खुशबु कोसों तक छाई'....

—'बसंत'

'बादल की पालैं धुएँ की जालैं छोड़े दौड़ा जाता है,
पावस नभ सागर, सब गुन आगर, ज़ोर जहाज दिखाता है ।
घन उक्ति सुहाई, कवि मन भाई, अर्थं बीजली भाती हैं,
जल रस बर्साती, सदा सुहाती, वर्षा कविता आती है ।
रंग रंग के बादल जोड़ जोड़ दल चल गरजते आते हैं,
नारंगी पीले लाल औ नीले, सावन सांझ दिखाते हैं ।'...

—'बर्सात'

या

नई भाषा की कविता

'भजन करो श्री कृष्ण का मिल करके सब लोग ।
सिद्ध होयगा काम औ छूटेगा सब सोग ।'

उनका कहना है :

'पश्चिमोत्तर देश के कविता की भाषा ब्रजभाषा है यह निर्णीत हो चुकी है और प्राचीन काल से लोग इसी भाषा में कविता करते आते हैं.... मैंने आप कई बेर परिश्रम किया कि खड़ीबोली में कविता बनाऊँ पर वह मेरे चित्तानुसार नहीं बनी इस्से यह निश्चय होता है कि ब्रजभाषा में ही कविता करना उत्तम होता हैं और इसी से सब कविता ब्रजभाषा में ही उत्तम होती हैं।'

('हिन्दी भाषा', पृ० २)

अन्त में कविता लिखने के बाद वे कहते हैं :

'अब देखिए कैसी भोंड़ी कविता है। मैंने इसका कारण सोचा कि खड़ीबोली में कविता मीठी क्यों नहीं (होती) तो मुझको सबसे बड़ा यह कारण जान पड़ा कि इसमें क्रिया इत्यादि में प्रायः दीर्घमात्रा होती हैं इस्से कविता अच्छी नहीं बनती।

'आप लोगों को ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा कि कविता की भाषा निस्सन्देह ब्रजभाषा ही है और दूसरे भाषाओं की कविता इतना चित्त को नहीं पकड़ती।'....

इसलिए व्यक्तिगत कारणों से काव्य के लिए ब्रजभाषा ही उन्हें रुची। उनका प्रभाव इतना ज़बर्दस्त था कि उनके जीवन काल में किसी को भी उनके विरुद्ध आवाज़ उठाने का साहस न हुआ। १८६८ के लगभग से खड़ीबोली आन्दोलन शुरू हुआ मानना चाहिए।[1] लेकिन भारतेन्दु से पहले, केवल महन्त सीतलदास को छोड़कर, उनके सामने और उनके बाद तक कोई भी कवि केवल खड़ीबोली का कवि नहीं कहा जा सकता। प्रायः सबने काव्य में ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों का प्रयोग किया हैं। स्वयं भारतेन्दु ने १८७६ में उपर्युक्त पहली तीन कविताएँ लिखी थीं। उसी वर्ष बाबू लक्ष्मीप्रसाद ने खड़ीबोली में भारत की दुरवस्था पर दस छन्द लिखे और गोल्डस्मिथ कृत 'हर्मिट' का 'योगी' के नाम से अनुवाद किया। १८८१ में पटना के बाबू महेश नारायण ने 'स्वप्न' शीर्षक एक लम्बी कविता लिखी जिसमें उन्होंने देशवासियों को तत्कालीन अधोगति से ऊपर उठने के लिए प्रोत्साहित और राष्ट्रीयता की ओर प्रेरित किया है। राय सोहन लाल और सत्यानन्द अग्निहोत्री ने भी खड़ीबोली में रचनाएँ कीं। १८८५ में भारतेन्दु की मृत्यु के बाद खड़ीबोली आन्दोलन ने निश्चित रूप से ज़ोर पकड़ा। १८८६ में श्रीधर पाठक ने 'एकान्तवासी योगी' की रचना खड़ीबोली में

१. भारतेन्दु ने 'कालचक्र' में लिखा है कि १८७३ ई० से 'हिन्दी नए चाल में ढली'।

पूर्ववत् अखण्ड और एकछत्र राजसत्ता न रह गई थी। खड़ीबोली का प्रचार उत्तरोत्तर बढ़ता ही जा रहा था।[१] उसकी काव्योपयुक्त शक्ति का पता श्रीधर पाठक की 'एकान्तवासी योगी' और 'जगत सचाई सार', महेशनारायण की 'स्वप्न' और लक्ष्मी-प्रसाद की 'योगी' आदि अनेक रचनाओं से लगाया जा सकता है। वह नीति-सम्बन्धी, वर्णनात्मक, करुण रस-पूर्ण आदि सभी प्रकार की काव्य-रचनाओं के उपयुक्त थी। 'खड़ीबोली का पद्य' में संग्रहीत खड़ीबोली रचनाओं के विषय में हेनरी पिन्कौट का कहना है : "The pieces are, all of them, excellent in tone, and they manifest a love of nature, a reverence for sacred things, and a desire for the best interests of humanity, the whole of which affords good evidenee of progress India is now making.' अपने शैशव काल में ही खड़ी-बोली काव्य ने काव्योपयुक्त गुणों और अपनी भावी शक्ति का परिचय दिया। परन्तु इस काल में खड़ीबोली का भी एकछत्र राज्य न हो पाया। यह कार्य बीसवीं शताब्दी में महावीरप्रसाद द्विवेदी के नेतृत्व में सम्पन्न हुआ। भाषा में अनेक अँगरेज़ी के शब्द प्रचलित हो गए थे। देशी मुहावरों और कहावतों का भी प्रचुर प्रयोग हुआ है।

छन्दों की दृष्टि से आलोच्य काल में कविता के नए आन्दोलन के फल-स्वरूप कोई विशेष महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं पाया जाता। दोहा, चौपाई, कवित्त, सवैया, रोला, सोरठा, छप्पय, चौपाई, मालिनी, द्रुतविलम्बित आदि मात्रिक और वर्णिक छन्दों का प्रधान रूप से प्रयोग होता रहा। किन्तु एक परिवर्तन तो यह पाया जाता है कि दोहा, चौपाई, कवित्त, सवैया, सोरठा आदि के स्थान पर

---

१. १६०७ में अयोध्यासिंह उपाध्याय का कहना है :

'दश वर्ष के भीतर इस प्रान्त के लोगों की रुचि में विचित्र परिवर्तन हुआ है। इस समय ब्रजभाषा का पूर्ववत अखण्ड दोर्दण्ड प्रताप नहीं है, आज कविता-क्षेत्र में अपनी एकछत्र राजसत्ता प्रवर्तित करने में वह अक्षम है। दिन दिन वह स्थान च्युत हो रही है—और शनैः शनैः उसका स्थान खड़ीबोली ग्रहण करती जाती है। सामयिक पत्रों में ब्रजभाषा के उच्छेद साधन के लेख आज भी लिखे जा रहे हैं—परन्तु उसका प्रतिवाद करने वाला कहाँ है। एक दिन वह था जब प्रात:स्मरणीय स्वर्गीय पं० प्रतापनारायण मिश्र ने ब्रजभाषा के पक्ष पर खड़े होकर अपने प्रौढ़ लेखों से दैनिक हिन्दोस्थान पत्र और सहृदय पं० श्रीधर पाठक को हिला डाला था, परन्तु यह सब बातें अब कथानक में परिणत हो गईं, क्योंकि समय का प्रवाह ब्रजभाषा के अनुकूल नहीं है।'

कवियों ने रोला, छप्पय, अष्टपदी, लावनी[1], ग़ज़ल, रेख़ता, और संस्कृत के छन्द द्रुतविलम्बित, शिखरिणी आदि पर अधिक ध्यान दिया और श्रीधर पाठक ने संस्कृत के अनुकरण पर अतुकान्त छन्दों का प्रयोग किया। साथ ही ईसाई पादरियों ने भी अपने कुछ गीतों में अँगरेज़ी लय के अनुकरण पर तुकों का प्रयोग किया, जैसे,

'गीत और गान
ईश्वर हम पर दया करे और हमें आशीस दे और
अपना मुख हम पर चमकावे। सिलाह। जिसमें तेरा मार्ग
पृथिवी में जाना जाय सारे गणों में तेरी मुक्ति। हे ईश्वर
जाति गण तेरी स्तुति करेंगे सारे जातिगण तेरी स्तुति करेंगे,
जातिगण आनन्दित होंगे और जय जय करेंगे क्योंकि तू
धर्म्म से लोगों का विचार करेगा और पृथिवी पर जाति गणों की
अगुआई करेगा : सिलाह।'....[2]

ऐसे गीत गिरजाघर के 'ऑरगैन' बाजे के साथ गाए जाने के लिए थे। किन्तु इस प्रकार की रचना-शैली का हिन्दी कवियों में प्रचार न हो सका। दूसरे,

---

[1] 'लावनी' (१८८४) के रचयिता काशीगिरि बनारसी परमहंस आशक्कहक्कानी लावनी की उत्पत्ति के विषय में लिखते हैं :

'कोई इसको लावनी कहते हैं और कोई मरहठी वा ख्याल कहते हैं असल में इसका बनाना और गाना दक्षिण से उत्पन्न है और इसके दो कर्त्ता हुए एक का नाम तुकनगिर और दूसरे का नाम शाहअली था उन्होंने दो मत खड़े किए तुर्रा और कलँगी तुकनगिर तुर्रे को बड़ा कहते थे और शाहअली कलँगी को बड़ा रखते थे आपस में विवाद किया करते थे और अपना अपना पंथ उन्होंने चलाया यहाँ तक की आज ताईं उनके मतवाले बहुत से लोग इस देश में बनाते गाते हैं उनमें पढ़े-लिखे भी हैं परन्तु बड़ा अफ़सोस है कि गाली ही गुफ़्ता बकते हैं इस क़दर से कि आपुस में लड़ भी पड़ते हैं इसी सबब से इसको कोई भला आदमी पसन्द नहीं करता है....'

—भूमिका

फ़रवरी, १९१० के 'इण्डियन ऐंटिक्वेरी' में पण्डित रामग़रीब चौबे का 'Poplular Singers in Saharanpur' पर नोट भी देखिए।

[2] 'गीतों की पुस्तक' (१८८६), पृ० ७१

खड़ीबोली की 'मुंशियाना स्टाइल' की कविता में उर्दू बह्रों का प्रयोग हुआ है। 'खड़ीबोली का पद्य' नामक संग्रह में ऐसी कविताओं का संकलन है जिनमें से एक का उदाहरण पीछे दिया जा चुका है। संस्कृत छन्दों या हिन्दी के प्रधान-प्रधान छन्दों की भाषा संस्कृत-मिश्रित तथा लावनी, रेखता, और उर्दू बह्रों की भाषा अरबी-फ़ारसी शब्दों से मिश्रित और उन्हीं के अनुरूप ढली हुई है। उर्दू बह्रों की लय की रक्षा के लिए शब्दों में आवश्यक परिवर्तन कर दिया गया है। संस्कृत छन्दों में समासयुक्त भाषा-शैली का भी प्रयोग हुआ है, जैसे, महावीरप्रसाद द्विवेदी कृत नागरी पर कविताएँ। साथ ही ईसाई पादरियों ने अपने कुछ गीतों में अँगरेज़ी लय के उपयुक्त भाषा-शैली का प्रयोग किया।

उपर्युक्त परिवर्तन के साथ कवित्त, सवैया जैसे पुराने छन्दों में नए भावों और विचारों का समावेश भी पाया जाता है। उनमें भी कवियों ने राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों का अनुसरण किया है। ये कविताएँ अधिकतर काशी के कवि-समाज और कानपुर के रसिक-समाज के अधिवेशनों में पढ़ी जाती थीं। कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :

'आयो बिकराल काल भारी है अकाल पर्‍यो
पूरै नाहिं खर्च घर भर की कमाई में।
कौन भाँति देवैं टैक्सइनकम लैसन औ
पानी की पियाई लैटरन की सफ़ाई में॥
कैसे हैल्थ साहब की बात कछू कान करैं
पड़ै न सुसीलभूमि पौढ़ै चारपाई में।
किमि कै बचावैं स्वाँस और कौन ओर घुसैं
सोवैं साथ चार चार एक ही रजाई में!॥'[1]

'बहु द्यौस सों अन्न भयो महंगो मिलै दूने औ चोगुने दामन में।
पढ़बौ लिखिबो गयो छूटि सबै लगे पेट के हेत जु धामन में।
बरसौ बहु अन्न बढ़ै धरनी तौं लगैं सुख सौं तुव पामन में।
सब भारत आरत ह्वै बिनवे धुरवान की धावन सामन में॥'[2]

'द्रव्य को देखि धरा मैं चहूँ दिसि खान खुदायो समस्त मही है।

१बाबू पत्तनलाल : रामकृष्ण वर्मा द्वारा सम्पादित 'समस्यापूर्ति' (१८९६) दसवाँ भाग, पृ० २६

२ 'रत्नेश : रसिक समाज, कानपुर के द्वितीय अधिवेशन में पढ़ी गई कविताओं का संग्रह 'रसिक-वाटिका', पहली क्यारी (१८९१), पृ० ९

वायु के मण्डल तार लगाय गुबारो उड़ाय के किति लही है।
सोच बनायो जहाज यही अँगरेजन बीर बिचार कही है।
रत्न को आकर है रत्नाकर इन्दिरा सागर बीच रही है।'[1]
'उन्नति या अँगरेजन की अरु भारत की या घटा करिबे को।
संस्कृत पारसी औ अरबी थल में अंगरेजी डटा करिबे को।
ब्राह्मन बैस औ छत्रिन की लखि हीनता सूद्र छटा करिबे को।
आप सुसील कढ़ै मुखतें समै ईस रच्यो है बटा करिबे को।'[2]

पहले कहा जा चुका है कि नई धारा के कवियों के सामने मुख्य कार्य साहित्य को नए-नए विषयों और क्षेत्रों की ओर मोड़ना था। भाषा की ओर उनका अधिक ध्यान नहीं गया। छन्दों का सवाल आने पर प्राचीन छन्दशास्त्र का अक्षय भाण्डार उनके सामने मौजूद था। आवश्यकता पड़ने पर वे चाहे जिस छन्द को बेखटके चुन सकते थे। यही कारण है कि इस काल में नए-नए छन्दों की उद्भावना न हो सकी।

काव्य की नई धारा के विकास की इस संक्षिप्त समीक्षा से यह प्रकट हो गया होगा कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र उसके गुरु थे। उन्होंने निश्चय और पूर्ण रूप से हिन्दी साहित्य में नवीनता को जन्म दिया। इस कार्य में उनको अपने सहयोगियों से बहुत सहायता मिली। इन कवियों की विचार-धारा ने राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक आन्दोलनों का अनुसरण किया। परन्तु आलोच्य काल में कविता की पुरानी परम्परा का ही प्राधान्य बना रहा। राधाकृष्ण की प्रेमलीला और भक्ति के घने जंगल में नवीनता स्वच्छ और चमकती हुई पतली जलधारा के समान है। उसमें प्रचारात्मकता रहते हुए भी सरलता, स्पष्टता, स्वाभाविकता, हृदय की सच्ची अनुभूति, शैली की मनोहरता या आधुनिक विचारधारा की जन्मदात्री होने की दृष्टि से हिन्दी साहित्य के इतिहास में उसका स्थान सदैव ऊँचा रहेगा।

●

---

१ रामकृष्ण वर्मा : उनके द्वारा संपादित 'समस्या पूर्ति' (१८९६), पृ० ६७

२ बाबू पत्तनलाल : रामकृष्ण वर्मा द्वारा संपादित 'समस्या पूर्ति' (१८९६) पाँचवाँ भाग, पृ० ९

उपसंहार

पीछे जो कहा गया है वह नवीन हिन्दी साहित्य की आरम्भिक कहानी है। अब तक जो कुछ लिखा जा रहा था उसमें परम्परानुगत और काव्य-शास्त्र की रूढ़ियों से ग्रस्त कविता का राज्य था। इसी सम्पदा को लेकर हम पश्चिमी दुनिया के सम्पर्क में आए थे। पहली बार हमारे साहित्य को अपने प्राचीन निर्धारित मार्ग से विचलित होना पड़ा था। यह ठीक है कि कविता में अभी तक प्राचीनता का अंश अधिक था, लेकिन वह अंश सड़-सड़ कर गिर रहा था और उसके स्थान पर नवयुग से प्रभावित नवीन काव्य-साहित्य का निर्माण हो रहा था। कविता की बात छोड़ कर हम पाते हैं कि गद्य-साहित्य निश्चय ही नवयुग की देन थी। इस क्षेत्र में हिन्दी साहित्य ने अपनी अपूर्व तीव्र गति का परिचय दिया। साथ ही क़ानूनी, वैज्ञानिक, दार्शनिक, तार्किक, धार्मिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक, यात्रा-सम्बन्धी, गणित-सम्बन्धी, शासन-प्रणाली-सम्बन्धी, भाषा-शास्त्र-सम्बन्धी, भूगोल-सम्बन्धी, अर्थशास्त्र-सम्बन्धी, कृषि-सम्बन्धी, दस्तकारी और कला-सम्बन्धी, शिक्षा-सम्बन्धी आदि विविध प्रकार के उपयोगी साहित्य की सृष्टि हुई। संस्कृत के प्राचीन उपयोगी ग्रंथों में से स्मृतियाँ, पुराण, आयुर्वेद, ज्योतिष, शिल्प, भाषा आदि के हिंदी रूपान्तर भी प्रकाशित हुए। प्राचीन ग्रन्थों के रूपान्तरों को छोड़ कर अन्य उपयोगी साहित्य उच्च कोटि का नहीं हैं, यह अवश्य मानना पड़ेगा। किन्तु उससे आलोच्य काल की मानसिक एवं बौद्धिक क्रियाशीलता का परिचय मिलता है। १८९८ में नागरी प्रचारिणी सभा ने एक वैज्ञानिक कोष प्रकाशित करने का कार्य भी प्रारम्भ कर दिया था। लेखकों और पाठकों का अभाव होने पर भी यह कार्य साधारण नहीं था। इन सब बातों के साथ गद्य की भाषा में अनेक परिवर्तन हुए। शब्द-कोष की वृद्धि हुई और नवीन शैलियों का आविर्भाव हुआ। जीवन की नवीन परिस्थितियों से उत्पन्न भावों और विचारों ने साहित्य में प्रवेश किया। जीवन का फिर से संस्कार किया जाने लगा। धार्मिक रूढ़ियों की जड़ हिलने लगी। मानव की सहायता और उसके प्रति सहानुभूति की प्रतिष्ठा हुई। साहित्य के चाहे जिस क्षेत्र को लीजिए उसी में परिवर्तन और नया प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। लेकिन इतने पर भी यह मानना पड़ेगा कि लेखकों और कवियों ने नई दुनिया को देखा और समझा जरूर, पर आसानी से न टूटने वाले पुरातनत्व के मोह-वश उन्हें संदेह बना रहा। जीवन की नवीन परिस्थितियों

से वे पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित न कर सके। और जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उस समय शायद यही सम्भव था। यही कारण है कि आलोच्यकाल में हमारा साहित्य यदि बिल्कुल पुराना नहीं है तो बिल्कुल नया भी नहीं है।

इधर बीसवीं शताब्दी के प्रथम दो दशाब्दों में काव्य में इतिवृत्तात्मकता का प्राधान्य रहा और 'रोमांटिक' काव्य का जन्म हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के अनेक लेखक अपनी पुरानी प्रवृत्ति लेकर आधुनिक शताब्दी में अवतरित हुए। अँगरेज़ी और बँगला की प्रभावशाली और उच्च कोटि की रचनाओं के अनुवादों की खूब भरमार रही। भाषा, रूप और विषय की दृष्टि से यह काल एक तरह से प्रयोगात्मक काल था। ज्ञान-सञ्चय के साथ-ही-साथ आलोचना, नाटक, आख्यायिका, उपन्यास आदि साहित्य के अन्य रूपों का भी विविध प्रकार से विकास हुआ।

लेकिन सन् १९१४-१८ के युरोपीय युद्ध और विशेषतः असहयोग आन्दोलन के बाद हिन्दी साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में उसके प्राचीन रूप से नितान्त अलगाव पाया जाता है। आधुनिक युग के विचारों के प्रभाव-वश उसका वाह्य रूप ही नहीं, वरन् आन्तरिक रूप भी बदल गया है। 'लिरिक' ने अँगरेज़ी का अनुकरण किया। राजनीतिक एवं आर्थिक कारणों से कवि की भावनाएँ अन्तर्मुखी हो उठीं। फलतः समाज-हित के स्थान पर वैयक्तिकता ने स्थान ग्रहण कर लिया। साथ ही भावुकता और असंयम की मात्रा अत्यधिक बढ़ गई, साहित्य के लिए यह मंगल की बात नहीं है। हाल ही में हमारे कवियों ने समाजवादी सिद्धान्तों के अनुकूल किसानों और मज़दूरों का गान आरम्भ किया है। उसमें वर्ग-युद्ध, संघर्ष और असन्तोष की ध्वनि प्रधान है। उससे मालूम होता है कि आज का व्यक्ति शोषण-नीति का शिकार बन कर कितना पिस गया है। असन्तोष और संघर्ष बढ़ता ही जा रहा है। इस प्रवृत्ति के साथ आशा की जाती है कि हमारे लेखकों की विश्व की पीड़ित मानवता के प्रति सहानुभूति बढ़ती ही जाएगी और राजनीतिक क्रान्ति के साथ सामाजिक क्रान्ति के गीत गा कर अन्त में वे सन्तोष, सुख, स्वतन्त्रता और सामञ्जस्य की स्थापना करने में सफल हो सकेंगे। लेकिन क्या साहित्यिक मूल्य का भी ध्यान रक्खा जायगा ?

●

परिशिष्ट
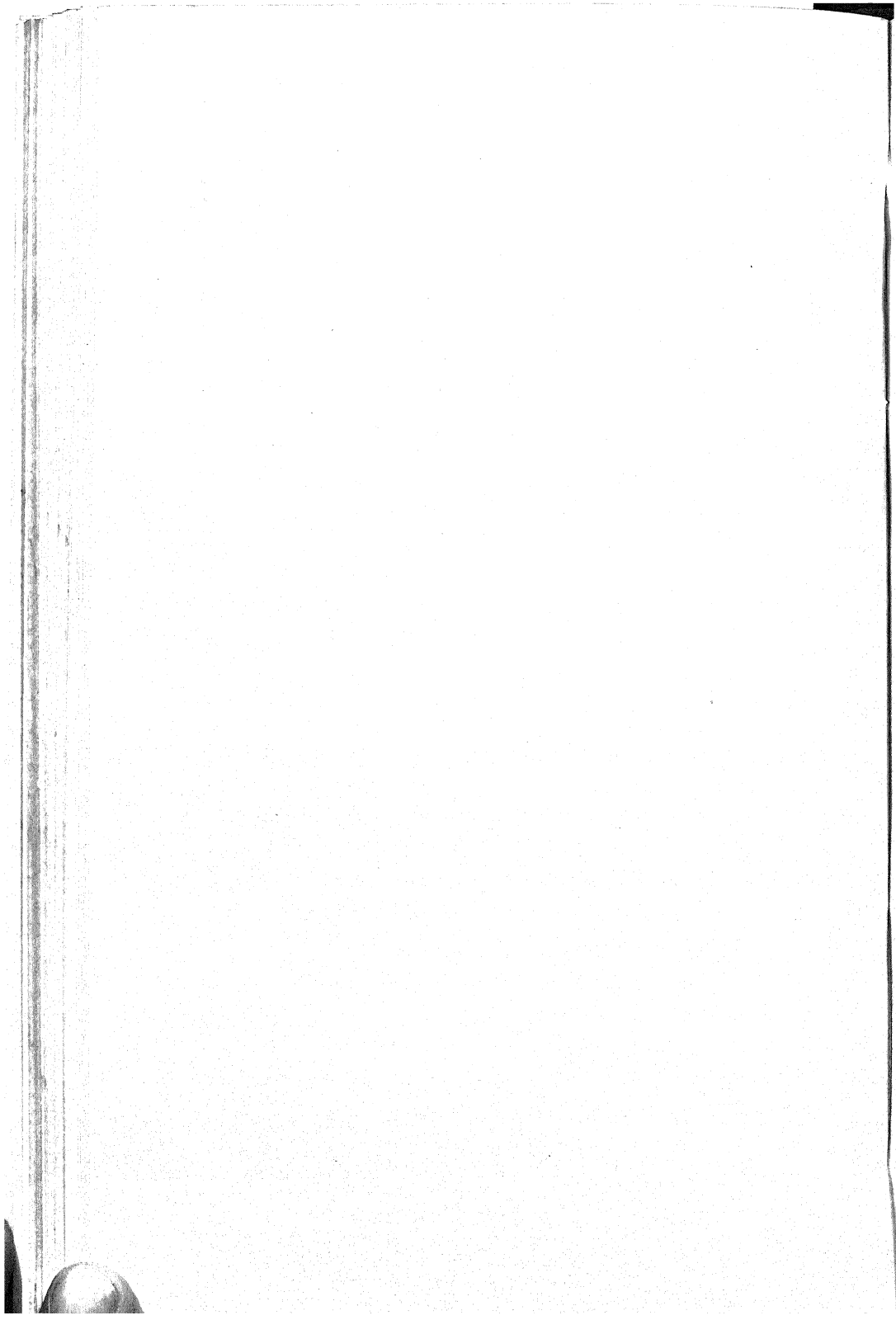
कविता

पुरानी धारा

हिन्दी साहित्य के विकास के समय हमारे पास जो पूँजी थी वह पुराने ढंग की कविता थी। कविता की यह परम्परा वीर काल, भक्ति काल और रीति काल से बराबर चली आ रही थी। आलोच्य काल में उसी का प्राधान्य था। यहाँ उस पर भी संक्षेप में विचार कर लेना उचित होगा।

दूसरे अध्याय में यह दिखाया जा चुका है कि अँगरेज़ी राज्य की स्थापना के बाद देश में अनेक सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक परिवर्तन हुए। देश में एक प्रकार से शान्ति थी और देश-काल के अनुसार नई-नई परिस्थितियों का जन्म हुआ। इन परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार पुराने ढंग की कविता की आवश्यकता न रह गई थी। परन्तु ब्रिटिश नीति ने अपने हित-साधनों के लिए राजाओं और ज़मींदारों वाली सामन्तवादी प्रथा को बनाए रक्खा। वहाँ प्रगति का प्रवेश मुश्किल से हो पाता था। अस्तु, इन दरबारों के आश्रित कवियों ने परिपाटीविहित रचनाओं को ही प्रधानता दी। ब्रिटिश भारत में नई धारा के तथा अन्य कवियों में ही पुराने ढंग की कविता होती रही। इस प्रकार की रचनाओं के हम दो कारण मान सकते हैं एक तो दरबारों की अप्रगतिशील प्रवृत्ति और दूसरा साहित्यिक परम्परानुकरण। जैसे-जैसे दरबारों में नवीन प्रभाव प्रवेश करते जा रहे थे और दरबारी और अदरबारी दोनों प्रकार के कवि नवीन परिस्थितियों से सामञ्जस्य स्थापित करते जा रहे थे, पुराने ढंग की रचनाएँ भी कम होती जा रही थीं। आज बीसवीं शताब्दी में प्राचीनता से हमारा सम्बन्ध बिल्कुल टूट गया है।

पुराने ढंग की कविता पर विचार करते समय पहले हम शृंगार काव्य लेंगे।

शृंगारात्मक रचनाओं से हमारा तात्पर्य हिन्दी की उन रचनाओं से है जो ईसा की सत्रहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी और कुछ अंशों तक बीसवीं शताब्दी तक रचित रीति और अलंकृत काव्य के अन्तर्गत आती हैं और जिनका विषय नायक-नायिका के विलासपूर्ण जीवन का चित्रण है। नायिका को प्राधान्य देकर शृंगारी कवियों ने उसके अंग-प्रत्यंग—नखशिख—उसके विवाह, आलिंगन, चुम्बन, रति आदि का जी भर कर वर्णन किया है। कामशास्त्र विषयक प्राय: सभी बातें उनमें आ

जाती हैं। भारतवर्ष ऐसे देश में कवियों द्वारा स्त्री के समस्त शरीर का खुल्लमखुल्ला वर्णन तथा अन्य रचनाएँ हिन्दी साहित्य के विद्यार्थी के लिए एक विचित्र उलझन पैदा कर देती हैं। ग्रियर्सन महोदय ने उनका उत्तरदायित्व यहाँ की जलवायु पर रक्खा है। अन्य इतिहास-लेखकों ने कवियों के आश्रयदाताओं की कुत्सित रुचि बता कर परोक्ष रूप में सारा दोष कवियों के मत्थे मढ़ दिया है। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि समाज में ऐसी अवस्था का उदय ही क्यों हुआ और उसका उत्तरदायित्व कहाँ तक कवियों पर है। साहित्य के प्रत्येक विद्यार्थी का कर्त्तव्य है कि वह इस गम्भीर विषय पर विचार करे। यह ठीक है कि फ़ारसी काव्य, मुग़लकालीन भोग-विलासपूर्ण दरबारी जीवन और उन दरबारों के अधीन और अनुकरण करने वाले हिन्दू राजाओं के दरबारों से उसको प्रश्रय मिला। परन्तु शृंगारपूर्ण रचनाओं की इतनी प्रचुरता के कारण खोजने के लिए वाह्य कारणों की ओर ही न जाकर तत्कालीन समाज के मानसिक तत्व की ओर भी जाना पड़ेगा।

हिन्दी साहित्य में वीरगाथा काल के समाप्त होने पर भक्ति की नई धारा प्रवाहित हुई। हिन्दू राजाओं का भारतीय राजनीतिक रंगमंच से लुप्तप्राय हो जाने से चारणों का अस्तित्व ही मिट गया। अब कोई कवि राजाओं का यशगान कर साहित्य का भाण्डार नहीं भर रहा था। परन्तु साहित्यिक दृष्टि से यह काल अत्यन्त प्रौढ़ काल माना जाता है। इस काल के साहित्य की उत्पत्ति की कहानी भी बड़ी दिलचस्प है।

भारतवर्ष में अब तक जितने आक्रमणकारी आए थे वे प्रायः राजशक्ति के लालच से आए थे। उनकी शत्रुता राजा से थी न कि समाज से। वे या तो लूट मार कर अपने देश को वापिस लौट गए या बाहर निकाल दिए गए या थोड़े दिन यहीं रहकर हिन्दू समाज में मिल गए। मुसलमानों ने आकर न केवल राज्य प्राप्त किया, वरन् उन्होंने समाज से भी हाथ लगाया। लगातार धर्म पर इस प्रकार आघात होने से भारतीय जनता का आत्म-विश्वास विचलित हो उठा। दूसरे स्वयं भारतीय समाज में विच्छिन्नता का दौरदौरा था। दोहरे आघातों का धक्का लगने पर देश में इस बात की आवश्यकता हुई कि समाज संगठित होकर वाह्य आघात और आन्तरिक विच्छिन्नता का साहसपूर्वक सामना करने में समर्थ हो। जाति की इसी चेतना के फलस्वरूप भक्ति-आन्दोलन ने ज़ोर पकड़ा जो मूलतः भारत की प्राचीन काल से चली आ रही विचारधारा के स्वाभाविक तौर पर विकसित रूप में मौजूद था। रामानन्द और वल्लभाचार्य ने रामानुज, निम्बार्क और विष्णु स्वामी महात्माओं के विचारों की नींव पर एक बड़ा भारी प्रासाद खड़ा किया जिसमें समस्त हिन्दू जनता ने आश्रय पाकर योग-सूत्र स्थापित करने का प्रयत्न किया। इन्हीं धार्मिक परम्पराओं के अनुयायी

कबीर, तुलसी, सूर आदि महान् कवि हुए जिन्होंने अपनी रचनाओं से समाज को विनाशोन्मुख होने से बचा लिया।

प्रश्न यह उठता है कि इस धार्मिक आन्दोलन का परिणाम क्या हुआ। क्या समाज विनाशोन्मुख होने से बच कर आगे बढ़ सका। पहले कहा जा चुका है कि इस आन्दोलन के नेताओं ने समाज को धर्म से विमुख होने से बचा लिया। उसके लिए समाज उनका चिरकृतज्ञ रहेगा। परन्तु इससे आगे क्या हुआ, यह समझने के लिए हमें पहले धर्म की प्रकृति पर विचार करना पड़ेगा।

जिस प्रकार एक बच्चा अपने को असहाय पाकर अपने पिता का आश्रय लेता है, ठीक उसी प्रकार आदिम मनुष्य की दशा थी। वर्षा, तूफ़ान, भूकम्प, बिजली आदि से अपना बचाव करने में वह असमर्थ था। और वास्तव में देखा जाय तो मनुष्य की इसी असमर्थता के सहारे सभ्यता और संस्कृति का इतना बड़ा प्रासाद खड़ा हुआ है। आदिम अवस्था में कुछ प्रतिभावान् व्यक्तियों ने एक ऐसी शक्ति की कल्पना की जो आपत्ति के समय उनकी रक्षा कर सकती थी। उन्होंने तत्कालीन समाज को बताया कि यदि वह उनके बताए हुए मार्ग पर चलेगा तो उसकी मुसीबतों से रक्षा हो सकेगी। कहना न होगा कि उस शक्ति का नाम ईश्वर था। जनता को बताया गया कि हमारे ऊपर एक ऐसी शक्ति का निवास है जिसे हम अपनी प्रार्थना, अर्चना आदि से प्रसन्न कर सकते हैं। और यदि वह शक्ति प्रसन्न हो जाय तो हम धनधान्यपूर्ण बन सकते हैं। अगुआ लोगों ने अपने त्याग और तपस्या से जनता में अपनी बातों का प्रचार कर लिया।

धर्मोत्पत्ति की इस संक्षिप्त समीक्षा से यह ज्ञात हो गया होगा कि धर्म की उत्पत्ति उस समय हुई थी जब मनुष्य अपनी आदिम अवस्था में था और विश्व में घटित होने वाली बातें समझने के लिए उसके पास ज्ञान का अधिक प्रकाश नहीं था। उस महाशक्तिमान् की रचना में उसने भ्रम से काम लिया। यह भी यहाँ बता देना ठीक होगा कि मनुष्य की कथित अवस्था में यह भ्रम अति आवश्यक था। मनुष्य को जीवन में चारों ओर जब दुःख-ही-दुःख दिखाई पड़ने लगा तो उसने एक ऐसे काल्पनिक जगत् की रचना की जहाँ एक सर्वशक्तिमान् व्यक्ति बैठा रहता था। वह दण्ड देने के साथ सम्पन्न भी बना सकता था। उसके लिए उन्होंने उपयुक्त साधन निकाले। यदि इस जन्म में सफलता न हुई तो दूसरे जन्म की आशा दिलाई गई।

भक्ति काल में हिन्दुओं ने इसी भ्रमात्मक वस्तु का अधिकाधिक सहारा लिया। यह तो ठीक है कि धर्म ने तत्कालीन समाज के अस्तित्व को बनाए रक्खा। परन्तु ठीक स्वाभाविक होते हुए भी यह मानन पड़ेगा कि धार्मिक आन्दोलन समाज को आगे न बढ़ा सका। उसका मुख्य ध्येय समाज के दूषित और विकृत अङ्गों को दूर करना

था। उसके बाद वह जैसा था वैसा ही बना रहा। उसे अवतारवाद का पाठ पढ़ाया गया। सन्तों ने अनहद का राग अलापा, तुलसी ने अवतारवाद की शिक्षा दी और सूर ने बच्चों से जी बहलाया। उसको बताया गया कि पाप का घड़ा भर जाने पर 'रामत्व' का जन्म होगा। जिन कथाओं और चरित्रों के आधार पर यह पढ़ाया गया उसकी महती शक्ति के होते हुए भी अन्त में उसका परिणाम रुचिकर न हुआ। समाज में निष्क्रियता बढ़ती गई। वह 'रामत्व' की प्रतीक्षा में बैठा रहा। लेकिन जैसा वह चाहता था वैसा न हुआ।

अपनी सारी प्रार्थनाओं को विफल होते देखकर जनता में नैराश्य बढ़ता ही गया। विदेशी आए और उन्होंने लूट मार की, अत्याचार किए। वांछित सहायता न आते देख कर जनता अधिकाधिक नैराश्य के गर्त में डूबती गई। इस नैराश्यजनित अवस्था में समाज को किसी आश्रय की ज़रूरत थी। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि निराशा के घोर अन्धकार में मनुष्य समाज से विमुख हो जाता है या नशे में चूर होकर अपने को भूल जाना चाहता है या धर्म जैसी किसी भ्रमात्मक वस्तु का सहारा लेता है। इन बातों के अतिरिक्त वह ज़िन्दगी का मज़ा उठाने में कालयापन करना भी श्रेयस्कर समझता है। वाह्य जगत् की भौतिक वस्तुओं पर अपना अधिकार कर लेना ही वह अपना ध्येय समझने लगता है। फिर वह आध्यात्मिकता की ओर नहीं झुकता। प्रेम करना-कराना उसके जीवन में प्रमुख स्थान ग्रहण कर लेता है। यह प्रेम पार्थिव होना चाहिए। और यह मानी हुई बात है कि बिलासिता से भरे हुए शृङ्गारी प्रेम की ओर ही मनुष्य अधिक आकृष्ट होता है। धर्म की अपेक्षा समाज इसी आश्रय की ओर झुका।

समाज यहाँ पर एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। समाज के दो भाग थे—एक तो उच्चस्तर का शिक्षित समुदाय और दूसरा अपढ़ और साधारण श्रेणी का समुदाय। शिक्षा का प्रचार हो जाने के कारण अब तो जनसाधारण का साहित्य लिखा जाने लगा है। तत्कालीन अवस्था में यह सम्भव नहीं था। अस्तु, हम उसके विचारों के विषय में कुछ नहीं कह सकते। दूसरे, शिक्षा के अभाव में हम उसमें समाज के निर्धारित मार्ग के विरुद्ध चलने का साहस पाने की आशा भी नहीं कर सकते। उच्च और शिक्षित समुदाय ही ऐसा कर सकता था। उपर्युक्त 'समाज' इसी समुदाय का द्योतक है। सामान्यतः आगे भी उसका इसी अर्थ में प्रयोग किया गया है।

अब समाज इन्द्रियजनित सुख की ओर बढ़ा। उस समय पारिभाषिक रूप में भक्ति काल आखिरी साँसें लेने लगा था। उसके समाप्त होते ही भारतीय समाज का ध्यान मुग़लों की शानशौकत और विलासपूर्ण जीवन की ओर अधिकाधिक खिचता गया। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि समस्त समाज

को—ऊँचे और नीचे और दोनों वर्गों को—धर्मप्राण बनाए रखने के लिए, उसको ऐहिक जीवन से विमुख कर परलोकोन्मुख बनाए रखने के लिए प्राणपण से चेष्टा की गई और उस पर नाना प्रकार के नियन्त्रण लगाए गए। जीवन को अनुशासित और नियन्त्रित बनाने की चेष्टा में स्वभावोचित सीमा का उल्लङ्घन किया गया। ऐहिक जीवन की मूल स्त्री पर प्रहार-पर-प्रहार किए गए। उसे समस्त व्याधियों की खान और साँपिन बताया गया। उसके डसे का कोई इलाज भी नहीं था। इस बात पर इतना ज़ोर दिया गया कि प्राणिशास्त्र के मूल नियम भी भुला दिए गए। धार्मिकता और परलोक की धुन में प्रकृति का एक महत्वपूर्ण नियम तोड़ देने और मनुष्य की जन्मगत भावनाओं को कुचल देने का प्रयत्न किया गया। परिणाम यह हुआ कि उपयुक्त वातावरण पाकर समाज की दबी हुई भावनाएँ एकदम उभड़ पड़ीं। समाज धार्मिक नियन्त्रणों से स्वतन्त्र नहीं था। ठीक है, परम्परागत संस्कारों को दूर करना आसान खेल नहीं था। तो भी भावनाएँ दबी नहीं रह सकती थीं। शिक्षित और उच्च श्रेणी के समाज के आश्रित कवियों ने अपनी रचनाओं द्वारा इच्छा-पूर्ति (wish fulfilment) का एक अच्छा साधन निकाल लिया। इससे उस समाज की दबी हुई भावनाओं के लिए अच्छा निकास मिल गया। स्त्री-पुरुष के अनेक सम्बन्ध होते हैं, पर उन्होंने केवल रतिपूर्ण सम्बन्ध ही अपनाया। और उसी की ज़रूरत भी थी। मुगल दरबारों के विलासपूर्ण जीवन ने उसको प्राश्रय दिया।

उसके लिए उन्हें सामग्री भी प्रस्तुत मिल गई। हिन्दी साहित्य का प्रासाद अधिकतर रामायण, महाभारत और भागवत पर खड़ा हुआ है। राम और कृष्ण जनता द्वारा सम्मानित हो चुके थे। पीड़ित और निराश जनता राम की ओर न जा कर कृष्ण के रङ्ग में मस्त हो गई। भागवत में कृष्ण के शृङ्गारपूर्ण वर्णन मिलते हैं। उन्हें पुरुषोत्तम की लीला कहा गया है। यह बात शृंगारी कवियों के हक़ में अच्छी साबित हुई। वे बिना रोक-टोक कृष्ण की लीलाओं को मनचाही कल्पना से रञ्जित कर जनता के सामने रख सकते थे। उन्होंने सोचा कि कृष्ण के नाम पर दी गई सामग्री ग्रहण करने में जनता को कोई सङ्कोच न होगा। ऊँच और नीच, शिक्षित और अशिक्षित, सभी के आदर्श चरित नायक की जीवनी में उन्हें उपयुक्त सामग्री मिली। दूसरे, ऐहिकतामूलक शृंगार-चेष्टाओं और प्रेम की रसमयी क्रीड़ाओं के वर्णन की संस्कृत वाली परम्परा विद्यमान ही थी। बस फिर क्या था। जी भर कर उन्होंने रति का वर्णन किया। वास्तव में कृष्ण की आड़ में उन्होंने लौकिक नायक का वर्णन किया है। भागवत में राधा का उल्लेख नहीं है। निम्बार्क स्वामी ने कृष्ण के साथ राधा जोड़ दी। कवियों को राधा के रूप में एक नायिका भी मिल गई। पण्डित शुकदेव-बिहारी मिश्र ने पटना विश्वविद्यालय के रामदीन लेक्चर्स (१९३२-३३)—हिन्दी

साहित्य और इतिहास'—में कहा है कि कृष्ण के साथ राधा वाली भक्ति जोड़ कर आपने ही (निम्बार्क स्वामी) शुद्ध वैष्णव मत को बाम मार्ग के मेल से कलुषित किया।.....उसमें कहने को तो धर्म-कथन है किन्तु अश्लीलता अथवा उसके आलम्बन उद्दीपन के द्वारा उसमें कलुषता जुड़ी है। बहुत से लोग शुद्ध भाव से भी उसे धर्म मानते हैं, किन्तु वास्तव में धर्म के नाम से वह जानते या न जानते हुए नीच प्रकृतियों का पोषण करता है। रामानुज द्वारा प्रतिष्ठित सेव्य-सेवक वाली भक्ति में आपने मलिन शृंगारात्मकता जोड़ दी।' वास्तव में यह जानते या न जानते हुए धार्मिक नियन्त्रणों और निरोधों का ही परिणाम था। शृङ्गारी कवियों के निकट राधा एक लोकोत्तर सुन्दरी नायिका का प्रतीक बन गई। जिस प्रकार एक मनुष्य जीवन के प्रभात में किसी दिव्य अनिंद्य काल्पनिक सुन्दरी को हृदय के सिंहासन पर प्रतिष्ठित करता है उसी प्रकार तत्कालीन जनसमुदाय ने राधारानी को प्रतिष्ठित किया। भिखारीदास ने कहा तो है :

> 'आगे के सुकवि रीझिहैं तो कविताई
> नत, राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है।'

ये दो पंक्तियाँ शृङ्गार-काव्य के ऐहिकतामूलक होने की साक्षी हैं। हिन्दी साहित्य में ऐसी रचनाएँ प्रचुर मात्रा में हुईं।

आधुनिक काल में अनेक विद्वान् शृंगार के नाम पर नाक-भौं चढ़ाते देखे गए हैं। वे उससे घृणा प्रकट कर तरह-तरह की आलोचना करने लगते हैं, जो सरासर अनौचित्य है। हम शृंगार साहित्य के कुछ अंगों पर प्रकाश डाल कर हम यह प्रकट करेंगे कि इन रचनाओं में मनोवैज्ञानिक तथ्य का कहाँ तक समावेश है।

शृंगारी कवियों का नायक-नायिका-भेद बड़े विवाद का विषय है। यह पहले कहा जा चुका है कि स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध का वर्णन करते हुए उन्होंने पार्थिव जीवन का वर्णन किया है। नायक-नायिका-भेद मूल में स्त्री-पुरुष के वास्तविक पारस्परिक सम्बन्ध का विशद विवेचन है। जो लोग उससे घृणा प्रकट करते हैं वे अपने को मानव-प्रकृति से अनभिज्ञ सिद्ध करते हैं। संस्कृत साहित्य में नायक-नायिका का वर्णन था ही। वह काव्य के शृङ्गार रस के अन्तर्गत था। शृंगारी कवियों ने उसे सहर्ष अपनाया।

नायिकाओं में सबसे अधिक घृणा की दृष्टि से परकीया नायिका देखी जाती है। प्रायः उसको व्यभिचार या वैवाहिक दुराचरण की अपराधिनी ठहराया जाता है। परन्तु ऐसा कहते समय आलोचक स्त्री-पुरुष दोनों की बहुवैवाहिक प्रवृत्ति को भूल जाते हैं। मनुष्य तो प्रसिद्ध बहुवैवाहिक प्राणी है। उसकी बहुवैवाहिकता उतनी ही पुरानी है जितना कि मानव-इतिहास। अनुकूल और दक्षिण नायक धर्मशास्त्र-संगत

हैं। कृष्ण स्वयं दक्षिण नायक थे। साथ ही समाज में धृष्ट और शठ नायकों का अभाव नहीं है। स्त्री आदि काल में एक प्रेमी के बाद दूसरे प्रेमी की इच्छुक रहती थी। विवाह का इतिहास इस बात का साक्षी है। आगे चलकर एक पति के शासन में रहना तो सभ्यता की देन है। मनोविज्ञान के आधुनिक विद्वानों की सम्मति में भी स्त्री एक प्रेमी के बाद दूसरा प्रेमी चाहती है। यह स्मरण रखना चाहिए कि इस प्रेम में विलासिता का अंश ही अधिक रहता है। सामाजिक भय और नियन्त्रण के कारण वह व्यावहारिक रूप में उसे प्रकट न कर सकती हो यह दूसरी बात है, परन्तु यह है एक मनोवैज्ञानिक तथ्य। न्यू यॉर्क यूनिवर्सिटी के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक ए० ए० ब्रिल का कथन है :

> 'I might say that this is one of those fanciful emotions that particuarly all moral women sometimes secretly desire to taste. We have named it the "being for naughty desire" or "prostitution complex." So many respectable women have very often told me that they do wish they could have the experience of being prostitute for an hour so that they might know just what it means. They were shocked at the very thought but it is pleasing and thrilling nonetheless.'

इसी बात का समर्थन प्रसिद्ध विचारक और दार्शनिक बर्ट्रेंड रसेल ने किया है :

> 'I think that uninhibited civilized people, whether men or women, are generally polygamous in their instinct. They may fall deeply in love and be for some years entirely absorbed in one person but sooner or later sexual familiarity dulls the edge of passion and they begin to go elsewhere for the revival of the old thrill.'

और जिस समाज में अपनी विवाहिता स्त्री का मुख देखना भी दुर्लभ हो उस समाज का कवि परकीया की ओर आकृष्ट हो तो क्या पाप है। इसलिए साहित्यिक परकीया को क्रूर दृष्टि से देखना उचित नहीं।

परकीया के बाद दूती के नाम पर भी प्रायः लोग मुँह सिकोड़ने लगते हैं। परन्तु वे भूल जाते हैं कि दूती हिन्दू सामाजिक व्यवस्था की उत्पत्ति है। तत्कालीन समाज प्रेमी-प्रेमियों को स्वतन्त्रतापूर्वक मिलने की आज्ञा नहीं देता था। समाज के भय से वे या तो चोरी से छिप कर मिलते थे या किसी तीसरे विश्वासपात्र व्यक्ति को मध्यस्थ बना कर अपना काम निकालते थे। यह व्यवस्था बहुत अंशों में अब भी

बनी हुई है। ऐसी हालत में दूती ही वह तीसरा व्यक्ति है। उसके द्वारा प्रेमी-प्रेमिका एक दूसरे के पास संदेश भेज सकते थे। वह उनका सहेट में मिलान कर सकती थी। और भी सैकड़ों कार्य उनके द्वारा सम्पन्न हो सकते थे। स्त्रियाँ इस कार्य में होती भी निपुण हैं। यदि शृंगारी कवियों ने एक सत्य हमारे सम्मुख रख दिया है तो उसमें क्रोध-प्रदर्शन की तो कोई बात नहीं है।

नायिकाओं के वर्णन में परकीया नायिका का वर्णन ही सर्वोत्तम और भावुकता-पूर्ण होता है। हमारे रसशास्त्रियों ने बहुत ठीक ही कहा है कि परकीया के वर्णन में भावावेग सबसे अधिक रहता है। इस बात का मनोवैज्ञानिक कारण भी है। प्रेमी-प्रेमिका का जब तक विवाह नहीं हो जाता तब तक पुरुष के लिए स्त्री संसार की अनिंद्य सुन्दरी बनी रहती है और स्त्री के लिए पुरुष संसार का सर्वश्रेष्ठ पुरुष बना रहता है। विवाह होते ही प्रेम का आवेग मन्द पड़ जाता है। उस समय संसार की अनिंद्य सुन्दरी एक साधारण स्त्री रह जाती है और संसार का सर्वश्रेष्ठ पुरुष एक महत्वहीन स्थान ग्रहण कर लेता है। इस मनोवैज्ञानिक सत्य के प्रकाश में परकीया व्यभिचारणी नहीं ठहरती। वैसे भी 'व्यभिचारणी' कही जाने वाली किसी स्त्री को घृणा और क्रोध की दृष्टि से देखना स्त्री जाति की मूल प्रकृति से अनभिज्ञता प्रकट करना है।

अस्तु, शृंगारी कवियों की रचनाओं को घृणा और उपेक्षा की दृष्टि से देखना, जैसी कि आधुनिक काल में प्रथा चल पड़ी है, सर्वथा अनुचित है। वास्तव में इन कवियों ने रस की सृष्टि की है। रसों में शृंगार ही प्रधान रस है। मूल रूप में प्रेम और शृंगार सदैव विलासपूर्ण होते हैं। परिस्थिति विशेष में वे चाहे जैसा रूप धारण कर लें, यह दूसरी बात है। तत्कालीन समाज के इतिहास का अभाव है। सम्भव है कि शृङ्गार साहित्य में वर्णित अनेक शिष्टाचारों और रीतियों का उस समय समाज में प्रचार रहा हो। उसको आधुनिक दृष्टि से देखना कवियों के प्रति अन्याय और अत्याचार करना है। शृंगारी कवियों का अपनी रचनाओं में अलंकार, छन्द आदि घसीट लाना केवल संस्कृत-शैली का अनुकरण और पाण्डित्य-प्रदर्शन मात्र है, जैसी तत्कालीन कवियों में प्रथा चल पड़ी थी।

वस्तुत: शृंगारी कवि एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था के शिकार बन गए थे जो भ्रमात्मक थी और जिसने समाज के ऐहिक जीवन के मूल को काट डालना चाहा था, पर शृङ्गारी कवि जीवन के अधिक निकट हैं। उन्होंने सीमा का उल्लङ्घन अवश्य किया है, परन्तु यह स्वाभाविक था। नैराश्यजनित अवस्था में वे धार्मिक नियन्त्रणों और निरोधों (Inhibitions and Repressions) को अधिक काल तक

न सह सके। अत्यधिक आध्यात्मिकता की प्रतिक्रिया के रूप में शृंगार साहित्य इन्द्रियों की पुकार है।

यहाँ पर यह संकेत कर देना भी अनुचित न होगा कि आधुनिक काल में शृंगार साहित्य का अध्ययन कम हो चला है और साहित्य के विद्यार्थी उससे कुछ अपरिचित जान पड़ते हैं। वास्तव में उसके अध्ययन के लिए काव्यशास्त्र, कामशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, वैद्यकशास्त्र, ज्योतिष, सौन्दर्य-विज्ञान, लोक-व्यवहार आदि में पूर्ण दक्षता प्राप्त कर लेने की अत्यन्त आवश्यकता है। ऐसा किए बिना इस साहित्य का पूर्ण रसास्वादन नहीं किया जा सकता। आधुनिक काल में ज्ञान के विविध विषयों के विविध अंगों का अध्ययन करने की सुलभता प्राप्त होने पर भी यदि हम ऐसा न कर सकें तो इससे अधिक दुःख की बात और कौन होगी। उचित यह है कि विद्वज्जन शृंगार साहित्य का वैज्ञानिक रीति से अध्ययन कर पाठकों को उसकी बारीकियों से परिचित करा कर उसे सरल और सुबोध बनावें। इतने बड़े कलापूर्ण साहित्यागार का दरवाज़ा बन्द होते देख कर प्रत्येक साहित्य-रसिक को मर्मान्तक पीड़ा होगी।

सम्भव है, कुछ सज्जन मुझे इस मत के प्रतिष्ठापित करने में महत्वाकांक्षा का अपराधी ठहरावें और अपने धर्मगत रूढ़ संस्कारों से चालित होकर इस मत को विनाशकारी और भयावह समझें। किन्तु विज्ञान उसे आश्रय देता है, बुद्धि उसका समर्थन करती है और मानव-प्रकृति उसे उत्तेजना देती है।

शृंगार साहित्य के उद्भव आदि की संक्षिप्त समीक्षा के बाद अब हम आलोच्य काल के शृंगार साहित्य का विवेचन करेंगे।

अँगरेज़ी राज्य के विस्तार के साथ-साथ कवियों को राजाश्रय की प्राप्ति में कमी होती जाती थी। पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव और देश की दीन-हीन दशा के कारण विद्वानों और सुहृद् समाज का ध्यान कृष्ण के 'केलि-कुंजों' की ओर से हट कर भारत की पतितावस्था और पेट भर भोजन न पाने वाली पीड़ित और दरिद्र जनता की ओर गया। तो भी रीवा, अयोध्या, सुठालिया, रामपुर (ज़िला मथुरा), काशी, हरिहरपुर आदि राज-दरबारों और काशी, मथुरा, प्रयाग, कानपुर आदि साहित्यिक केन्द्रों में शृंगार साहित्य की रचना नवीन प्रभावों से बाहर रहने के कारण और कुछ साहित्यिक परम्परा के रूप में बराबर हो रही थी। कवि-समाज (काशी) और रसिक समाज (कानपुर) जैसी संस्थाओं ने भी प्राचीन परम्परा बनाए रखने की चेष्टा की। स्वतन्त्र रूप से तथा समस्या-पूर्तियों के रूप में कवि अपनी रचनाएँ करते थे। हिन्दी साहित्य के इस संक्रान्ति-काल में प्राचीन साहित्यिक परम्पराओं से एकदम विमुख हो जाना आसान भी न था।

रीति काल में शृंगार का विशद विवेचन हो चुका था। उस समय के कवियों ने अपनी प्रौढ़ और स्तुत्य रचनाओं से साहित्य के इस अंग की सर्वाङ्ग पूर्ति कर दी थी। इसलिए इस काल में कवियों को अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाने का कम अवसर रह गया था। प्राचीन साहित्य का जो कुछ प्रभाव शेष रह गया था उसी के अन्तर्गत अब के कवि उसका पिष्टपेषण करते रहे। परन्तु इस पिष्टपेषण में भी वे कोई विशेष और महत्वपूर्ण कला-कौशल न दिखा सके। पूर्ववर्ती कवियों ने कलापूर्ण मुक्तक रूप में शृंगारिक रचनाएँ की थीं। विविध अलङ्कारों से सुसज्जित उनकी सुन्दर कृतियाँ संसार के किसी भी साहित्य को गौरव प्रदान कर सकती हैं। उनमें शृंगारोपयुक्त यौवन की मनोरम छटाओं और प्रेम-व्यापार का सूक्ष्म और मर्मस्पर्शी दिग्दर्शन अत्यन्त ललित भाषा में कराया गया है। राधा-कृष्ण के जीवन-सम्बन्धी मनोहर अंगों को लेकर उन्होंने हृदयस्पर्शी और सुन्दर दृश्यों का सृजन किया है। परन्तु अब कवियों ने राधा-कृष्ण की रति-केलि और दानलीला, धोबिन लीला, चुर-हारिन लीला, कुँजड़िन लीला, छद्‌मवेष लीला आदि लीलाओं और 'अष्टयाम' के रूप में उनका प्रातःकाल से लेकर संध्या तक के कार्यक्रम का ही अधिकांश में वर्णन किया है। लीलाओं की भी उपलीलाओं का वर्णन किया गया है। इनके अतिरिक्त उन्होंने विस्तृत नख-शिख-वर्णन, रूप, सुकुमारता, चुम्बन, परिरम्भण आदि और नायक-नायिका-भेद का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। कुछ सुन्दर रचनाओं को छोड़ कर यह साहित्य अपने प्राचीन गौरव के अत्यन्त हीन और क्षीण रूप में हमारे सामने आता है। कृष्ण-सम्बन्धी पौराणिक कथाओं की जैसी छीछालेदर इस काल के शृंगार साहित्य में मिलती है वह अन्यत्र दुर्लभ है। वैष्णव मन्दिरों के कर्मकाण्ड का प्रभाव भी इन रचनाओं पर कम नहीं पड़ा। इस प्रभाव की चरम सीमा हमें शाह कुन्दनलाल 'ललितकिशोरी' की रचनाओं में मिलता है। फलतः कवियों ने मुख्य विषय को भुला कर गौण विषयों को ही प्रधानता दी है। इससे इस साहित्य का मूल्य बहुत कम हो गया है। चण्डीदास, विद्यापति आदि वैष्णव कवियों की भाँति इन रचनाओं में आध्यात्मिकता ढूँढ़ने का प्रयत्न करना उपहासास्पद होगा। मार्मिकता के बहाने इन कवियों ने नग्न शृंगार का वर्णन किया है। उनकी रचनाओं में ऐहिक प्रेम का वर्णन है, जो परम्परानुसार ही है। उनके नायक-नायिकाएँ सामाजिक प्राणी हैं। उनको धार्मिक रूप में मानना उचित नहीं।

इस ऐहिक प्रेम में हम सच्चे भारतीय आदर्श का दिग्दर्शन पाते हैं। प्रेमी-प्रेमिकाएँ सभ्य और शिष्ट हैं। मार-काट, द्वेष-वैमनस्य और किसी का किसी को भगा कर ले जाना, इन बातों का संकेत तक नहीं मिलता। नायिकाओं के वर्णन में नायिका की सहिष्णुता और सहन-शक्ति वास्तव में प्रशंसनीय है। असूया की प्रवृत्ति

अवश्य पाई जाती है, परन्तु वह अत्यन्त सुन्दर और मानव स्वभावगत है। उसमें सीमा का उल्लंघन नहीं होता।

साहित्यिक दृष्टिकोण से हम इन रचनाओं को उच्च श्रेणी की रचनाएँ नहीं कह सकते। सेवक ('वाग्विलास'), भारतेन्दु, 'द्विजदेव' आदि कुछ कवियों के अतिरिक्त अन्य कवियों की रचनाओं में साहित्यिक सौष्ठव बहुत कम है। शताब्दियों से जिस विषय में बड़े-बड़े कवियों ने अलङ्कार और रस-निरूपण की सृष्टि की थी उसमें अब कवियों के लिए गुंजाइश न रह गई थी। उन्होंने अधिकतर कवित्त और सवैया छन्दों का प्रयोग किया है। उनमें भी केवल अन्तिम पंक्ति में कवि के उक्ति-वैचित्र्य के दर्शन होते हैं। एक ही विषय पर लगातार रचना होते-होते अब के कवियों की रचनाओं में पुनरावृत्ति का समावेश पाया जाता है। एक कवि के वाक्यांश, उपमा, रूपक आदि दूसरे कवि की रचना में भी मिलते हैं। खंजन, नागिन, चकोर, कामदेव के नगाड़े, काम के गुम्बद, सेवार, त्रिवेणी, कदली, मृणाल, कामनसेनी, काम-सरोवर, तारे, चन्द्रमा, सूर्य, भँवर, भौंरा, प्रवाल, हंस आदि का सभी ने समान रूप से व्यवहार किया है। अलंकार ठूँस-ठूँस कर भरने के कारण काव्य में अस्वाभाविकता और कृत्रिमता आ गई है। उसमें मुख्य विषय दब गया है। वर्ण्य विषय का असली रूप सामने न आ कर कोई दूसरा रूप सामने आ जाता है। यमक, उपमा, श्लेष और अनुप्रास आदि का अत्यन्त भद्दा रूप मिलता है :

'कौल कलिताके मंजु छाये मुक्तता के गुनगन गनताके हेतु रिद्धि सिद्धि ताके हैं। पानिप पताके छोरदार छबिता के शिर भूष कर ताके हेम रंग फबिताके हैं ॥ तीन गुनताके जाके एक रेखताके नैन गनपाल ताके साके बाढ़ै बल ताके हैं। प्रेम फल ताके भक्ति रस भलि .ताके बोध बुधि बलि ताके पद मातु ललिता के हैं ॥१०१॥'[1]

'कितने मनी को नीको कितने पनी को नीको कितने गनी को नीको कहत अनी को है। कितने कनी को नीको कितने रनी को नीको केते रजनी को नीको कहै रमनी को है। कितने गुनी को केते मुनी कौ पुनी को कितने धुनी को केते कहत चुनी को है। गुन्यौ जननी को नीको नेकऊ न नीको नीको नीको जन नीको नाम जग जननी को है ॥१०॥'[2]

अलंकार-प्रयोग के विषय में शङ्करसहाय अग्निहोत्री (१८३५-१९१०) की निम्नलिखित उक्ति थोड़े हेर-फेर के साथ सामान्य रूप से लागू हो सकती है :

१. ठा० गनेशबख्श सिंह 'गनपत' और ठा० महेश्वरबख्श सिंह : 'प्रिया प्रीतम विलास' (१८९१ तृ० सं०), पृ० ५४

२. दिलीपपुर के महाराज कुमार बाबू नर्मदेश्वरप्रसाद सिंह : 'शिवाशिव शतक' (१८७५), पृ० ३-४

प्रबाल से पाँय चुनी-से लला नख दंत दिपैं मुकतान समान;
प्रभा पुखराज-सी अंगनि मैं विलसैं कच नीलम से दुतिमान।
कहै कवि संकर मानिक से अधरारुन हीरक-सी मुसकान;
विभूषन पन्नन के पहिरे बनिता बनी जौहरी की सी दुकान।'[1]

अलंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, सन्देह, अपन्हुति, मीलित, उन्मीलित, यमक, श्लेष, अनुप्रास आदि का अधिक प्रयोग हुआ है। उनसे कवि की कला-दक्षता प्रकट नहीं होती। परन्तु अनेक त्रुटियाँ और काव्य-शैथिल्य होने पर भी काव्य-कौशल पूर्ण पंक्तियों का नितान्त अभाव नहीं है, ऐसी पंक्तियाँ कम अवश्य हैं :

'बूझतु हौ कहा वाकी दशा भुवनेश जू बात वृथा बहि जायगी।
साँची कहे पतियाहु नहीं नहिं काची कछू हम सों कहि जायगी॥
आश नहीं बचिवे की अबै पर प्यारी जऊ रहते रह जायगी।
बीश बिसे बन फूले पलाशन देखि अँगारन सों दहि जायगी॥१४॥'[2]

वास्तव में पूर्ववर्ती और इस काल के श्रृंगारी कवियों की रचना-शैली में अधिक भेद नहीं है, भेद केवल मूल्य (Quality) का है। इस काल में मार्मिक और मनोहर पद्यों की संख्या अत्यन्त न्यून है। इन कवियों के लिए कोई बन्धन नहीं था। जिसने जैसे चाहा वैसे ही लिख दिया।

इस काल का छन्द-चयन भी अधिकांश में परम्परानुसार है। कवियों ने कवित्त, सवैया, बरवै, घनाक्षरी, दोहा, सोरठा, चौपाई, छप्पय, मत्तगयन्द, तोटक, ताटंक, भुजंगप्रयात, रोला आदि का अधिक प्रयोग किया है। ये छन्द श्रृंगार-रचनाओं के उपयुक्त ठहरते हैं। श्रृङ्गारी कवियों ने मुक्तक-काव्य की रचना की है। मुक्तक-काव्य के लिए भी उपर्युक्त छन्द उपयुक्त ठहरते हैं। परन्तु इस काल में कुछ नए छन्दों का प्रयोग किया गया, जैसे बिरहा, मलार (बारहमासा), रेखता, ग़ज़ल और कजली।[3] उर्दू साहित्य के अधिकाधिक सम्पर्क में आने से रेखता और ग़ज़ल

---

१. विनोद (१६८५ वि० सं०), पृ० ११२४

२. लाल त्रिलोकीनाथ सिंह 'भुवनेश' : 'भुवनेश भूषण' (१८८०)

३. भारतेन्दु ने कजली की उत्पत्ति इस प्रकार लिखी है :

'कन्तित देश में गहरवार क्षत्री दादूराय नामक एक राजा हुए और माड़ा बिजैपुर इत्यादि देश में उनका राज था बिन्ध्याचल देवी के मंदिर के नाले के पास उनके टूटे गढ़ का चिन्ह अब तक मिलता है उन्होंने चार भैरवों के बीच में अपना गढ़ बनाया है और वह अपने राज में मुसलमानों को गंगाजी नहीं छूने देते थे, उसके देश में अनावृष्टि हुई उसने उसके निवारणार्थ बड़ा धर्म किया और फिर वृष्टि हुई इसी में उसकी कीर्ति को कन्तित की स्त्रियों ने उसके मरने और उसकी रानी नागमती के सती होने

का चलन हो गया था। रेखता और ग़ज़ल लिखने वालों में भारतेन्दु और शाह कुन्दनलाल विशेष उल्लेखनीय हैं। १९०० में रामकृष्ण वर्मा ने विरहा छन्द में 'नायक नायिका-भेद' लिखा। कजली, मलार और ग़ज़ल का जितना प्रचार था उतना बिरहा का नहीं था। नए-नए छन्दों के इस चुनाव से यह प्रकट होता है कि इस मृतप्राय शृंगार साहित्य में जीवन का कुछ-कुछ संचार बाकी था। महाराजाधिराज कुमार लाल खड्गबहादुरमल ने ('सुधाबुन्द' में) अति उत्तम कजलियाँ लिखीं।

पर एक मनमाने राग और धुन में बाँधकर गाया इसी से उसका नाम कजली हुआ। कजली नाम के (दो) कारण हैं एक तो उस राजा का बन था उसका नाम कजली बन था दूसरे उस तृतीया का नाम पुराणों में कज्जली तीज लिखा है जिसमें यह कजली बहुत गाई जाती है।

उसकी कीर्ति में ग्रामीणों ने उसी काल में ये छन्द बनाए थे।

'इण्डियन ऐंटिक्वेरी' (दिसम्बर, १९१०) में विलियम क्रुक कृत 'Religious Songs from Northern India' में कजली पर एक नोट इस प्रकार मिलता है :

KAJALI SONGS

The origin of the Kajali songs

The Kajali is a kind of song, which according to the well informed on such subjects, owes its origin to Mirzapur. It is said that there was one Danu Rai, a Gaharwar Thakur and ancestor of the present Raja of Kantit, who founded a very powerful kingdom on the banks of the Ganges with its capital at Pampapur Danu had such an overwhelming hatred for the Musalmans, who were then new-comers, that he allowed no Musalmans to touch the Ganges. Mohemmadans could not, like others who have manly blood in their viens, brook this insult with impunity. They attacked Danu and some say that he fell in the fight with them.

Danu was held in great esteem by his subjects, partly on account of his religious enthusiasm and partly on account of his love for them. On his death, the women of his kingdom retired into a forest known as Kajjal Ban (Black Forest, properly near Hardwar) and mourned his loss by singing mournful songs in his honour. These songs afterwards came to be named Kajali. Though they were originally

शृंगार-पूर्ण रचनाओं में ब्रजभाषा का प्रयोग किया गया है। परन्तु इस काल में ब्रज प्रमुख साहित्यिक केन्द्र न रह गया था। पूर्वी कवियों का ब्रजभाषा ज्ञान केवल साहित्यिक था। वे ब्रज-प्रदेश में जाकर कभी नहीं रहे थे। इसलिए ब्रजभाषा पर पूर्वी हिन्दी का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। खड़ीबोली का प्रचार हो जाने से

---

rhymes expressive of sorrow and grief, yet in after times people began to compose love songs to the tune of Kajali. They too took the same name accordingly.

The Kajali song is sung throughout the month of Srawan (July-August) by men and women in Mirzapur and on the last day of the same name.

In Mirzapur City, and in every Village of that district, there is a tank or reservoir which is termed Kajrahawa Pokhra. On Kajali Day women and girls of every Hindu family go to this tank to bathe. After bathing they wash certain plants of Barley, which they grow in this month for the purpose of tying round the top-knot on their heads. Then four or five of them stand in circle and perform what is called by the people of Mirzapur, Dhun Muniya. This consists in each woman moving in a circle without breaking it, and at short intervals of bending the back and then stretching out the hand and closing the fists. They walk round this circle at least five times, singing Kajali. Then they return home and tie plants of barley in the 'choti' of their brothers, for which they get some rewards in return.

On the night preceding Kajali day, women of every Hindu family keep awake the whole night and sing Kajali. In short, there is now a religious festival where there was none before.

Another version

In the Kantit Country (Mirzapur District) there was a Gharwar Rajput named Dadu Rai. He was a powerful Raja and ruled over Manda and Bijaipur. Near the temple of Bindhyabasini Devi at Mirzapur (Vindhyachal is three miles from Mirzapur) by the stream,

उसका प्रभाव भी पड़े बिना न रह सका। बिरहा और कजली में पूर्वी हिन्दी का ही प्रयोग हुआ है। रेखता और ग़जलों की भाषा अरबी-फ़ारसी के शब्दों से मिश्रित खड़ीबोली है। वैसे भी सर्वप्रचलित अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग बराबर हुआ है।

इस काल में प्राचीन और तत्कालीन शृङ्गार साहित्य का वैज्ञानिक रीति से अध्ययन भी शुरू हो गया था। इस अध्ययन के फलस्वरूप अनेक संग्रह-ग्रंथ प्रकाशित हुए। उनमें शृंगार-पूर्ण कविता के अतिरिक्त कुछ भक्ति के पद्य भी सम्मिलित हैं। संग्रहकर्त्ताओं में सरदार: 'शृंगार-संग्रह' (१८४८) और 'षट्ऋतुप्रकाश' (१८६४); भारतेन्दु: 'सुन्दरी तिलक' (१८५९ में प्रकाशित)[1] और 'पावस-कवित्त-संग्रह';

---

the imprints of his fort are still to be seen. He surrounded his fort with four Bhairons, or guardian-gods of a sacred place, and he never allowed any Musalmans in his dominions to touch the Ganges. Once when the annual rains held off for a very long while and great distress prevailed, he performed charitable acts on large scale, and then the rain-god Indra was propitiated, shedding showers of rain in abundance. When Dadu Rai died his wife Nagmati became 'sati'; the women of Kantit, who held their Raja and the Rani in great esteem, sang their praise in a melody of their own, now called Kajali. The name owes its origin to a forest, owned by the Raja in which the women mourned his loss. The third day of the month, in which this song is sung, is named in the Puranas or local records, Kajali Tij, or the Black Third'. पृ० 325-326.

'Indian Antiquary', December 1910.
'Religious Songs From Northern India.'
—William Crooke

१. 'सुन्दरी तिलक' का बाँकीपुर संस्करण भारतेन्दु कृत कहा गया है। किन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि इस ग्रन्थ का संपादन भारतेन्दु के कहने से 'द्विज' कवि मन्नालाल ने किया था। राधाकृष्णदास ने इसे 'संपादित, संगृहीत व उत्साह देकर बनवाए' ग्रन्थों के अंतर्गत रक्खा है। उन्होंने स्वयं संपादन किया या किसी दूसरे से संपादित कराया, यह बात यहाँ स्पष्ट नहीं होती। अन्यत्र उन्होंने लिखा है: "उसी समय (१८७२ से पहिले) 'सुन्दरी तिलक' नामक सवैयों का एक छोटा सा संग्रह छपा। तब तक ऐसे ग्रन्थों का प्रचार बहुत कम था। इस ग्रन्थ का बड़ा प्रचार हुआ, इसके कितने ही संस्करण हुए, बिना इनकी आज्ञा के लोगों ने छापना और

हफ़ीजुल्लाखाँ : 'हज़ारा', 'नवीन संग्रह' (१८८२), 'षट्ऋतु-काव्य-संग्रह' (१८८६); और 'प्रेम-तरंगिणी' (१८९०); द्विज कवि मन्नालाल : 'पञ्चाशतक', 'शृंगार-सुधाकर', 'प्रेमतरंग' (१८७७), 'शृंगार सरोज' (१८८०) और 'सुन्दरीसर्वस्व' (१८८५); नकछेदी तिवारी 'अजान कवि' : 'मनोजमञ्जरी', ४ भाग (१८८६); साहबप्रसाद सिंह : 'काव्यकला' (१८८५); और बंगालीलाल सुत परमानन्द सुहाने : 'पावस कवित्त रत्नाकर' (१८९३) के नाम प्रमुख हैं। इस ग्रंथों में नायक-नायिका-भेद और उसी के अन्तर्गत रस-निरूपण और षट्ऋतु-वर्णन-सम्बन्धी हिन्दी साहित्य के चुने-चुने सर्वोत्तम छन्द दिए गए हैं।

शृङ्गार साहित्य के संक्षिप्त परिचय के बाद इस काल के शृंगारी कवियों का परिचय दे देना उचित होता। परन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि अधिकतर कवियों का पूरा या अधूरा भी विवरण अप्राप्य है। उनके रचनाकाल तक ज्ञात नहीं हैं, और जो ज्ञात भी हैं वे अनिश्चित रूप से। उनकी सब रचनाएँ भी नहीं मिलतीं। इसलिए कुछ प्रसिद्ध कवियों का संक्षेप में नीचे उल्लेख किया जाता है।

इस काल की पुरानी परिपाटी के प्रसिद्ध कवियों में प्रमुख अयोध्यानरेश महाराज मानसिंह 'द्विजदेव' (१८२०-१८७०) हैं। उनके 'शृंगार लतिका' (१८४९) और 'शृङ्गार बत्तीसी' (१८५६) दो ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। 'शृंगार बत्तीसी' कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है। उसमें 'लतिका' के बत्तीस छन्द संग्रहीत हैं। शृंगारी कवियों की परम्परा में 'द्विजदेव' के कवित्त अत्यन्त मनमोहक और चित्ताकर्षक हैं। उनकी रचनाओं में सरसता और भाव-प्रवणता मिलती है। उनकी भाषा में स्वच्छता और सौष्ठव है और व्यर्थ के अलंकारों की झनझनाहट नहीं मिलती। 'शृङ्गार-लतिका' में षट्ऋतु-वर्णन अच्छा हुआ है। उनकी रचना का एक नमूना नीचे दिया जाता है :

> 'चित-चाँहि अबूझ कहै कितने, छबि-छीनी गयंदन की टटकी।
> कवि केते कहैं निज बुद्धि उदै, यदि सीखी मरालन की मटकी॥
> 'द्विजदेव' जू ऐसे कुतरकन मैं, सब की मति यौं हीं फिरै भटकी।
> वह मंद चलै किन मोरी भटू! पग लाखन की अँखियाँ अटकी॥'[1]

बेचना आरम्भ किया, यहाँ तक कि इनका नाम तक टाइटिल पर से छोड़ दिया। परन्तु इसका उन्हें कुछ ध्यान न था। अब एक संस्करण खड्गबिलास प्रेस में हुआ है जिसमें चौदह सौ के लगभग सवैया हैं; परन्तु इन सवैयों का चुनाव भारतेन्दुजी की रुचि के अनुसार हुआ या नहीं यह उनकी आत्मा ही जानती होगी।"

१. 'शृङ्गार लतिका सौरभ', २७२, पृ० २७३

सरदार कवि काशीनरेश ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह के आश्रित रहते थे और ललितपुर के हरिजन कवि के पुत्र थे। 'अजान कवि' (१८६२ में जन्म) ने 'कविकीर्ति-कलानिधि' (१८६२) में सन् १८७७ ई० उनका वर्ष (?) दिया है। खोज रिपोर्ट (१६१०-१६११) में उनका रचना-काल १८५४ माना है। पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने उसे १८४५ से १८८३ तक माना है। खोज रिपोर्ट के अनुसार सरदार कवि १८८३ में जीवित थे। उन्होंने नायक-नायिका-भेद, रस आदि पर ग्रन्थ-रचना कर अपनी साहित्य-मर्मज्ञता का परिचय दिया है। 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया', 'बिहारी सतसई', 'सूर के दृष्टिकूट', 'मानस-रहस्य' आदि पर उनकी टीकाएँ प्रसिद्ध हैं। उनके संग्रह-ग्रन्थों में 'श्रृंगार-संग्रह' और 'षट्ऋतुप्रकाश' अत्यन्त विख्यात हैं। 'षट्ऋतुप्रकाश' का सरदार और उनके शिष्य नारायणदास कवि ने संग्रह किया है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त उन्होंने 'साहित्य सरसी', 'हनुमतभूषण', 'तुलसीभूषण', 'मानसभूषण', 'व्यंग्य-विलास', 'रामरत्नाकर', 'रामरसजंत्र', 'साहित्य-सुधाकर', 'रामलीला प्रकाश' और 'वाग्विलाश' ग्रन्थों की रचना भी की। 'श्रृंगार-संग्रह' (सरदार), 'सुन्दरी तिलक' (भारतेन्दु), 'साहित्य रत्नाकर' और 'साहित्य प्रभाकर' संग्रह-ग्रन्थों में उनके कवित्त मिलते हैं।

पुरानी परिपाटी के अनुसार रचना करने वाले अन्य प्रमुख कवियों में लाल त्रिलोकीनाथ सिंह 'भुवनेश', गौरीप्रसाद सिंह, गोविन्द कवि गिल्लाभाई (१८४८ में जन्म), दासापुर के द्विज बलदेवप्रसाद (१८४०-१६०४ के लगभग), महन्त जानकी-प्रसाद उपनाम रसिकबिहारी रसिकेश (१८४४ में जन्म), सन्तोष सिंह शर्मा, ठाकुर जगमोहन सिंह, नकछेदी तिवारी 'अजान कवि', द्विज बेनी, गजाधर कवि (कवि पद्माकर के पौत्र और १८६८ में मृत्यु), असनी के लाल कवि, राय शिवदास कवि, शाह कुन्दनलाल 'ललितकिशोरी' (१८७३ में मृत्यु), शिवनाथ द्विवेदी, लछिराम (१८५६-१८६८ र० का०), चन्द्रशेखर वाजपेयी, गोकुलनाथ (रघुनाथ कवि के पुत्र), ठाकुर गणेशबख्श सिंह और जगन्नाथदास 'रत्नाकर' के नाम विशेष रूप से उल्लेख-नीय हैं। अन्य छोटे-छोटे कवियों में हम पडरौना के ईश्वरप्रतापनारायण राय, राम जू उपाध्याय, श्रीकृष्ण लालजी, कवि नन्दराम, महाराजकुमार नर्मदेश्वर प्रसाद सिंह 'ईश' (जगदीशपुर के), द्विज कवि, हरिशंकर सिंह, दिवाकर भट्ट, गजाधरप्रसाद शुक्ल शर्मा 'द्विज शुक्ल', बलभद्र मिश्र (ओरछा) गंगाधर उपनाम 'द्विजगंग' शर्मा (दासापुर के द्विज बलदेव के पुत्र), सुखदेव मिश्र, श्यामसुन्दर 'श्याम' (कवि मन्नालाल के पुत्र), अयोध्यानाथ 'अवधेश', अम्बाशंकर, गोस्वामी किशोरीलाल, गोस्वामी कन्हैयालाल जी, छेदी कवि, जगन्नाथप्रसाद 'सागर', महाराजकुमार गुरुप्रसाद सिंह, मन्नूलाल, सिद्ध कवि, हनुमानप्रसाद, सर रावणेश्वरप्रसाद सिंह, शिवनन्दन सहाय,

चौबे उपनाम 'रसीले', शिवप्रसाद 'शिव' (रामनगर), रामकृष्ण वर्मा आदि की गणना कर सकते हैं। इनमें से कुछ कवियों की तो स्वतन्त्र रचनाएँ प्राप्त हैं, परन्तु अधिकांश के केवल स्फुट कवित्त-सवैये संग्रह-ग्रन्थों में मिलते हैं। उन्हीं से उनका काव्य-कौशल ज्ञात होता है। पुरानी परिपाटी के और भी अनेक शृंगारी कवियों के नाम मिलते हैं। परन्तु उनके विवरण या उनकी रचनाओं के नाम नहीं मिलते। इन कवियों ने पुरानी परिपाटी को बनाए रक्खा। बहुत खोजने के बाद इस साहित्य-सागर में कुछ रत्न भी हाथ लग जाते हैं। वास्तव में ये कवि दिनभर मधु-सञ्चय करने के बाद थकी हुई मक्खियों के जमघट के समान हैं।

अब तक हमने केवल उन्हीं कवियों का अति सूक्ष्म परिचय दिया है जिन्होंने पुरानी परिपाटी की ही कविता की। लेकिन जैसा कि पहले कहा जा चुका है एक श्रेणी उन कवियों की भी थी जिन्होंने एक ओर तो साहित्य की नवीन प्रगति में योग दिया और दूसरी ओर प्राचीन काव्य-परम्परा का भी निर्वाह किया। वैसे भी यदि देखा जाय तो ऐसा कवि कोई न मिलेगा जिसने प्राचीन काव्य परम्परा बनाए रखने में थोड़ा-बहुत योग न दिया हो। बिल्कुल ही नवीन परिपाटी के कवि का कोई उदाहरण नहीं मिलता। हाँ, बालमुकुन्द गुप्त अपवाद स्वरूप अवश्य माने जा सकते हैं। ऐसे कवियों का संक्षेप में नीचे उल्लेख किया जाता है।

इस काल में भारतेन्दु हरिश्चद्र एक महान् साहित्यिक सङ्गम के समान हैं जहाँ साहित्य की प्राचीन धाराएँ मिल कर एक नवीन साहित्यिक धारा को जन्म देती हैं। उनमें जगनिक, कबीर, सूर, मीरा, देव और बिहारी आदि सभी मूर्तिमान दृष्टिगोचर होते हैं। उनका जन्म एक वैष्णव वंश में हुआ था। उनके पिता की अपने काल के बड़े कवियों में गणना की जाती थी। कवि-समाज उनके यहाँ प्रतिदिन लगा रहता था। ऐसी दशा में प्राचीनता से मोह तोड़ देना भारतेन्दु के लिए आसान काम नहीं था। साथ ही वे उसके गुलाम भी नहीं थे। वे दिन-रात कवियों की सङ्गति में बैठे रहते थे। उन्होंने अनेक कवि-समाज स्थापित किए जहाँ प्राचीनता को लिए हुए समस्या-पूर्ति हुआ करती थी। उन्होंने शृङ्गार रस के बड़े ही मनोहर कवित्त और सवैए कहे हैं जिनमें विलासिता की बू नहीं है। 'प्रेम-माधुरी' (१८७५), 'प्रेम-तरङ्ग' (१८७७), 'प्रेम-प्रलाप' (१८७७), 'प्रेम-फुलवारी' (१८८३) आदि में उनके अत्यन्त सुन्दर कवित्तों, सवैयों और पदों का संग्रह है। 'भारतेन्दु ग्रंथावली' (ना० प्र० स०), द्वितीय खण्ड, में सम्मिलित 'स्फुट कविताएँ' में भी उनके अच्छे कवित्त और सवैया मिलते हैं। वास्तव में यदि 'द्विजदेव' और भारतेन्दु इस काल के सर्वश्रेष्ठ कवि कहे जायँ तो कोई अत्युक्ति न होगी। भारतेन्दु की ब्रजभाषा अत्यन्त शुद्ध और स्वच्छ है। उसमें प्रादेशिक प्रयोग, शब्दों की तोड़-मरोड़ आदि दोष नहीं मिलते।

उन्होंने अपने रसीले सवैयों में जहाँ तक हो सका बोलचाल की ब्रजभाषा का व्यवहार किया। इसी से उनके जीवन-काल में ही उनके सवैए चारों ओर सुनाई देने लगे। उनकी भाषा मधुर और प्रसादगुणपूर्ण हैं। उनकी सुन्दर कविता के कुछ उदाहरण नीचे उद्धृत किए जाते हैं :

'एक ही गाँव में बास सदा घर पास इहौ नहिं जानती हैं।
पुनि पाँचएँ सातएँ आवत जात की आस न चित्त में आनती हैं।
हम कौन उपाय करैं इनको 'हरिचन्द' महा हठ ठानती हैं।
पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना अँखियाँ दुखियाँ नहिं मानती हैं।।४२।।'[1]

'उमड़ि उमड़ि दृग रोअत अबीर भए
मुख-दुति पीरी परी बिरह महा भरी।
'हरीचन्द' प्रेम-माती मनहुँ गुलाबी छकीं
काम झर झाँकरी-सी दुति तन की करी।
प्रेम कारीगर के अनेक रंग देखौ यह
जोगिआ सजाए बाल बिरिछ तरे खरी।
आँखिन में साँवरी हिए बसै लाल वह
बार बार मुख तें पुकारत हरी हरी।।१२१।।'[2]

'ते केहि चितवत चकित मृगी सी।
केहि ढूँढ़त तेरो कह खोयो क्यों अकुलात लखाति ठगी सी।
तन सुधि करि उघरत ही आँचर कौन व्याधि तू रहति खगी सी।
उत्तर देत न खरी जकी ज्यों मद पीये कै रैनि जगी सी।
चौकि चौकि चितवति चारिहु दिसि सपने पिय देखति उमँगी सी।
भूलि बैखरी मृग सावक ज्यों निज दल तजि कहुँ दूरि भगी सी।
करति न लाज हाट-वारन की कुल-मर्यादा जाति डगी सी।
'हरीचन्द' ऐसेहि उरझी तो क्यों नहिं डोलत संग लगी सी।।५६।।'[3]

उनके कवित्त और सवैए प्रायः सभी प्राप्य संग्रह-ग्रंथों में मिलते हैं। भारतेन्दु के अतिरिक्त इस श्रेणी के शृङ्गारी कवियों में रामकृष्ण वर्मा 'बलवीर' या 'वीर कवि', उपाध्याय बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', प्रतापनारायण मिश्र, अम्बिकादत्त व्यास और ठाकुर जगमोहन सिंह के नाम प्रमुख रूप से

---

१. 'प्रेम-माधुरी' (भा० ग्रं०), पृ० १५५

२. वही, पृ० १७३-१७४

३. 'स्फुट कविताएँ' (भा० ग्रं०), पृ० ८४४

लिए जा सकते हैं। इन कवियों ने ब्रजभाषा में शृङ्गार की सरस, हृदयग्राहिणी और मार्मिक कविताएँ की हैं। समस्यापूर्ति भी ये कवि अच्छी करते थे। श्रीधर पाठक भी ब्रजभाषा में प्राचीन ढंग की कविता किया करते थे।[1]

यह पहले कहा जा चुका है कि प्राचीन परिपाटी के शृङ्गारी कवियों ने रस, अलंकार, छन्दशास्त्र आदि की आड़ में शृङ्गार का ही वर्णन किया है। उनका रीति का सहारा लेना परम्परा का अनुकरण मात्र है। अतः उनको रीति के आचार्य न मान कर शृङ्गारी कवि मानना अधिक संगत होगा। उदाहरण के लिए, हम शुकदेव कवि कृत 'श्रीरसार्णव' (१८९०) और गोकुलनाथ कवि कृत 'चेतचन्द्रिका' नामक दो ग्रंथ ले सकते हैं। उनमें शृङ्गार-वर्णन की उमङ्ग और उत्साह में आचार्यत्व दिखाई ही नहीं देता। मुख्य विषय, क्रमशः रस और अलंकारों का निरूपण, पिछड़ गया है। यही दशा अन्य अनेक रीति-विषयक कहे जाने वाले ग्रंथों की है।

परन्तु तो भी काव्य-शास्त्र-विषयक शास्त्रीय ढंग पर रचे गए ग्रन्थों का नितान्त अभाव नहीं रहा। उनमें काव्यत्व को प्रमुख स्थान नहीं दिया गया। ये ग्रन्थ विवेचनात्मक और प्रौढ़ हैं। रस-ग्रन्थकारों में से अयोध्या के महाराज प्रतापनारायण सिंह : 'रसकुसुमाकर' (१८९२); अलङ्कारशास्त्रियों में कविराजा मुरारिदान : 'जसवन्तभूषण' (१८९३); गंगाधर 'द्विजगंग' : 'महेश्वरभूषण' (१८९५); और कन्हैया-लाल पोद्दार : 'अलङ्कारप्रकाश' (१८९६) और पिंगल-ग्रन्थकारों में गदाधर भट्ट : 'छन्दोमंजरी', के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन ग्रन्थों में संस्कृत की शैली पर वर्ण्य विषय का सर्वाङ्गीण और आचार्यत्व की दृष्टि से विवेचन किया गया है। कविराजा मुरारिदान और 'द्विजगंग' को छोड़कर अन्य ग्रंथकारों ने लक्षण देकर हिन्दी साहित्य से चुने हुए उदाहरण दिए हैं। लक्षण अधिकतर पद्य में ही दिए गए हैं। परन्तु गद्य का विकास हो जाने के कारण अनेक बातें गद्य में भी स्पष्ट कर दी गई हैं। केवल 'द्विजगंग' ने ऐसा नहीं किया। अपने-अपने विषय-निरूपण में उन्होंने मम्मट, रुद्रट, पण्डितराज जगन्नाथ, रुय्यक आदि संस्कृत के आचार्यों में से किसी एक का आधार लिया है। अलङ्कार-विषयक ग्रंथ अधिकतर मम्मट और पण्डितराज जगन्नाथ के आधार पर लिखे गए हैं। पूर्व-वर्णित प्रसिद्ध ग्रंथकारों के अतिरिक्त गिरिधरदास कविराज : 'भारतीभूषण' (१८८०); जाजमऊ के दत्त कवि : 'लालित्य-लता'-अलं०; रामचन्द्र दास शर्वरी कायस्थ : 'नवरसतरङ्ग' (१८८६, रस); कवि रघुवरदयाल दुर्ग : 'छन्दरत्नमाला' (१८५५); राम जू उपाध्याय : 'काव्य-संग्रह पंचाग' (१८७७, छन्द); जगन्नाथ प्रसाद दुबे : 'गणप्रदीप' (१८८५), और महाराज-

---

१. दे०, **'मनोविनोद'**

कुमार रामकिङ्कर सिंह : 'छन्द-भास्कर' (१८९१) के नाम भी उल्लेखनीय हैं। परन्तु इन ग्रंथकारों की रचनाएँ सर्वाङ्गीण नहीं हैं। वे प्राथमिक ढंग की छोटी और कामचलाऊ हैं। रीति-ग्रंथकारों में प्रतापनारायण सिंह, कविराजा मुरारिदान और कन्हैयालाल पोद्दार ने अवश्य खड़ीबोली गद्य का प्रयोग किया है जिसमें ब्रजभाषा का पुट भी है। नहीं तो अन्य रीतिकारों ने भाषा और छन्द के चुनाव में शृङ्गारी कवियों का अनुसरण किया है। अच्छे और वैज्ञानिक ढंग पर लिखे गए रीति-ग्रंथों की रचना के लिए अध्ययन और परिश्रम की आवश्यकता थी। शृङ्गार की उमङ्ग में यह कब सम्भव था। इसलिए इस काल में रीति-ग्रन्थों की रचना का अधिक प्रचार न हो सका।

भक्ति-काव्य—

भक्ति-काव्य के विषय में पहले से यह कह देना उचित जान पड़ता है कि वह भक्ति काल की रचनाओं का अनुकरण मात्र और उनकी अपेक्षा अत्यन्त शिथिल और हीन है। यद्यपि अब भी अनेक नए धार्मिक सम्प्रदाय जन्म ले रहे थे, तो भी वैष्णव और शैव सम्प्रदायों का ही अधिक ज़ोर था। राम और कृष्ण की भक्ति के अतिरिक्त अब के कवियों ने दास्य और विनय भावनाओं से प्रेरित होकर अन्य देवी-देवताओं, जैसे, भैरव, दुर्गा, काली, आदि तथा लीलाओं और तीर्थक्षेत्रों, जैसे, वृन्दावन, मथुरा, अयोध्या, और गंगा, सरयू आदि पवित्र नदियों को लेकर संस्कृत की स्तोत्र-शैली पर स्तोत्र, स्तवन आदि की रचना करना आरम्भ कर दिया था। भक्ति के इसी रूप की इस काल में विशेषता रही। विभिन्न देवी-देवताओं की स्तुति करते हुए कवियों ने पंचक, अष्टक, पचीसी, बत्तीसी, चालीसी आदि की रचना की है। इन रचनाओं में भक्ति काल के अध्यात्म-दर्शन का परिचय नहीं मिलता। उनमें गाम्भीर्य नहीं है। वे फुटकर पदों के रूप में केवल सम्प्रदाय विशेष की नियमावली के शुष्क रूपान्तर प्रतीत होते हैं। मार्मिकता और हृदय की सच्ची अनुभूति का उनमें अभाव है। मन्दिरों की कर्मकाण्ड-प्रथा का भी उन पर यथेष्ट प्रभाव है।

कृष्ण-भक्ति के अन्तर्गत मन्दिरों में प्रचलित कर्मकाण्ड का सबसे गहरा प्रभाव इन रचनाओं में वस्तुओं के विस्तृत वर्णन में मिलता है। वैसे तो सूर भी इस प्रभाव से नहीं बच सके, पर इस काल में इस प्रभाव ने बड़ा भद्दा रूप ग्रहण कर लिया। मन्दिरों में भोग, रूपों का शृङ्गार आदि जो कृत्य होते थे उनका इन रचनाओं में विस्तार-सहित वर्णन मिलता है। कवियों ने लीलाओं, नखशिख, षट्ऋतु आदि का इतना विस्तृत वर्णन किया है कि तबियत ऊब जाती है। इसी प्रकार नामकरण, छठवीं, अन्नप्राशन, बधावा आदि संस्कारों, घोड़ों की सैकड़ों जातियों, तरह-तरह की वेश-भूषाओं, सैकड़ों मिठाइयों, पकवानों और मेवों का वर्णन मिलता है। 'रामस्वयंबर'

में महाराज रघुराजसिंह ने राम-विवाह की साधारण से भी साधारण बात नहीं छोड़ी। यह पद्धति परिमार्जित साहित्यिक रुचि के सर्वथा विरुद्ध है। महाराज रघुराजसिंह और बाबा रघुनाथदास रामसनेही में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से पाई जाती है।

कृष्ण की लीलाओं और उनके विहार ने कवियों का मन इतना मोह रक्खा था कि उनको और कुछ सूझता ही न था। लीलाओं में भी धोबिन, पनिहारिन, चुड़हारिन, मनहारिन, दर्जिन, जलविहार, बनविहार, दानलीला, मानलीला, झूला-लीला, होली, कलेवा आदि हीन लीलाओं का अधिक वर्णन है। भक्ति और शृंगारी कवियों में ये वर्णन समान रूप से पाए जाते हैं। परन्तु शृंगारी कवियों ने शृंगार भावना को प्रधानता दी है। भक्त कवियों ने राधा-कृष्ण के स्वरूप का वर्णन पौराणिक कथाओं को लेकर मथुरा और वृन्दावन के मन्दिरों में अभिनीत लीलाओं के अनुकरण पर किया है। राम के वर्णन में अनुशासन और नियन्त्रण की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए कवि राम के निकट जाने में घबड़ाए हैं। कृष्ण-भक्ति के रूप का इतना प्रचार था कि अनेक कवियों ने राम को 'कन्हैया' बना कर अयोध्या की गलियों में घुमा दिया है। गोपियों का स्थान सीता तथा अन्य राजवधुओं और उनकी सखी-सहेलियों ने ले लिया है।

मुक्तक, खण्ड और प्रबन्ध सभी काव्यों में मन्दिरों में प्रचलित तत्कालीन कर्मकाण्ड और लीलाओं का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। परन्तु प्रबन्ध-काव्यों में, और कुछ हद तक मुक्तक और खण्ड-काव्यों में भी, तत्कालीन सामाजिक जीवन का प्रभाव स्पष्ट रूप से व्यक्त है। हिन्दुओं ने मुसलमानों के अत्याचारों से पीड़ित होकर उन्हें राक्षस के नाम से पुकारना शुरू कर दिया था। साहित्य में भी इसी नाम का प्रयोग किया गया है। महाराज रघुराजसिंह ने 'रुक्मिणी परिणय' में कालनेमि के सभासदों का वर्णन मुसलमानों के रूप में किया है। वे सिर हिला-हिला कर क़ुरान पढ़ रहे हैं और उनके दाढ़ियाँ हैं। इसी प्रकार बाबा रघुनाथदास रामसनेही ने हिन्दू-मुसलमानों में छूआछूत के भेद का उल्लेख किया है। कृष्ण-सम्बन्धी गाथाओं का वर्णन करते समय इस प्रकार के काल-प्रभाव से अलग न रह सकना महाराज रघुराजसिंह और रामसनेही जैसे विद्वानों के विषय में कभी क्षम्य नहीं कहा जा सकता।

यह साहित्य भारतीय नवोत्थान से प्रभावित हुए बिना न रह सका। सबसे पहले तो स्वामी दयानन्द के खण्डन-मण्डन से जनता की रुचि तथा विचारधारा बहुत कुछ बदल गई थी। भक्ति के प्राचीन रूप का प्राचुर्य और प्राबल्य न रह गया था। इस काल में भक्ति-साहित्य के शिथिल और शोचनीय होने के कारणों में आर्य समाज

आन्दोलन सबसे बड़ा कारण माना जा सकता है। दूसरे, धार्मिक और सामाजिक सुधारों के प्रति ये कवि बिल्कुल उदासीन नहीं रहे। उन्होंने बाल-हत्या, बाल-विवाह, सती-प्रथा आदि क्रूर प्रथाओं का खण्डन किया। वे इन प्रथाओं को कलिकाल के प्रभावान्तर्गत बतला कर सर्वसाधारण को इनसे बचने और इन्हें दूर करने का आदेश देते हैं। इस विषय में महाराज रघुराजसिंह का नाम आदर के साथ लिया जा सकता है।

मुस्लिम संस्कृति और शिष्टाचार के नियम राजा-महाराजाओं के उच्चवर्गीय हिन्दू समाज में प्रविष्ट हो चुके थे। इसका परिचय हमें अधिकांश में महाराज रघुराजसिंह की रचनाओं में मिलता है। 'रुक्मिणी परिणय' के कृष्ण-रुक्मिणी-विलास के प्रसंग में कमरे की सजावट शाही रंगमहलों के शयनागारों जैसी है। 'रामस्वयंवर' में उन्होंने नमस्कार या प्रणाम के स्थान पर 'सलाम' का प्रयोग भी किया है। राम और कृष्ण के प्रसंग में यह काल-प्रभाव उसी प्रकार असंगत मालूम देता है जिस प्रकार आधुनिक काल में राम या कृष्ण का बिजली के पंखे के नीचे चाय पीने बैठना। उच्च श्रेणी की साहित्यिक रचनाओं में यह बात असह्य है।

अब के राम-कृष्ण-भक्त कवियों और शृङ्गारी कवियों की रचना-शैली में कोई विशेष अन्तर नहीं है। छन्दों में दोहा, चौपाई, सोरठा, सवैया, कवित्त, मनहरण, घनाक्षरी, भुजङ्गप्रयात, मत्तगयन्द, तोटक, ताटङ्क, छप्पय, बरवै आदि छन्दों का ही अधिकतर प्रयोग हुआ है। नए छन्दों में ख़याल वा लावनी, कजली, रेखता-ग़ज़ल और मलार (बारहमासी) का व्यवहार होने लगा था। कजली में राम-कृष्ण की शृंगारमयी लीलाओं का वर्णन किया गया है विविध राग-रागिनियों में कवियों ने पद भी लिखे हैं। धार्मिक वाद-विवादों में लावनी का रिवाज चल पड़ा था। वैसे तो प्रतापनारायण मिश्र तथा अन्य कवियों ने भी लावनियाँ लिखी हैं, पर उनका प्रचार अधिकतर निम्न श्रेणी के अर्द्धशिक्षित लोगों तक सीमित था। लावनियों और ग़ज़लों को इसीलिए बहुतेरे लोग घृणा और उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगे थे। उनमें साहित्यिक सौष्ठव और सरसता का अभाव है। इस काल के सबसे प्रसिद्ध लावनी-लेखक काशगिरि बनारसी आशक़ेहक्कानी थे। भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, श्यामाचरण मुखोपाध्याय जैसे लेखकों ने लावनी को सर्वसाधारण में प्रचलित उसके विकृत और घृणित रूप से बहुत-कुछ बचाए रक्खा।

जैसा पहले कहा जा चुका है, भक्त कवियों ने कृष्ण की सरस लीलाएँ लेकर मुक्तक-काव्य की रचना ही अधिक की है या उन्होंने देवी-देवताओं, पवित्र स्थानों, जन्मस्थानों और लीलाक्षेत्रों की (स्तवन, स्तोत्र, पञ्चक, अष्टक आदि के रूप में) महिमा का गान किया है। साथ ही राम-कृष्ण की आड़ में सवैया वाली शैली में

उन्होंने अपनी शृंगारिक मानसिक वृत्तियों और भावनाओं का प्रदर्शन भी किया है। वर्णनात्मक प्रबन्ध कथाकारों में रीवा के महाराज रघुराजसिंह और बाबा रघुनाथदास रामसनेही अधिक प्रसिद्ध हैं। इन दोनों में महाराज रघुराजसिंह का स्थान ऊँचा है। राम-भक्त कवियों ने भी पुराणों या रामायण या महाभारत के आधार पर प्रबन्ध-कथाओं की रचना की। ऐसे कवियों में लखनऊ के बालमुकुन्द वैश्य, जालौन के हज़ारीलाल, पण्डित बैजनाथ, गङ्गाराम मिश्र 'रामगङ्ग', 'रामकवि' पण्डित ललनपिया और कवि दलपतराम डाहिया 'व्रज' ही उल्लेखनीय ठहरते हैं। खण्ड-काव्य के रचयिताओं में ठाकुर महेश्वरबख्श सिंह, श्यामबिहारी मिश्र 'शिरमौर' और ईश्वरी द्विज की रचनाएँ विशेष आदरणीय हैं। पौराणिक चरित्रों और कथाओं के अतिरिक्त ऐतिहासिक चरित्रों, जैसे, गौराङ्ग, जयदेव, शङ्कर, दयानन्द आदि के विषय में भी रचनाएँ हुईं। परन्तु उनमें कोई साहित्यिक विशेषता नहीं पाई जाती। मुक्तक, खण्ड और प्रबन्ध-काव्य के कवियों ने चौपाई, दोहा, सोरठा, कवित्त, सवैया, पद, भुजङ्ग-प्रयात, मत्तगयन्द, शिखरिणी, द्रुतविलम्बित, तोटक आदि का प्रयोग किया है। प्रबन्धकारों का कृष्ण की अपेक्षा राम की ओर अधिक ध्यान गया। राम का समन्वय-कारी जीवन ही प्रबन्ध-रचनाओं के उपयुक्त ठहरता है। परन्तु उनमें साहित्यिक पटुता बहुत कम मिलती है।

भक्त-कवियों की भाषा व्रज है जिसमें पूर्वी हिन्दी, फ़ारसी और अरबी के शब्द भी पाए जाते हैं। केवल बाबा रघुनाथदास ही एक ऐसे कवि हुए जिन्होंने पूर्वी हिन्दी (अवधी) में सफलतापूर्वक रचना की है। नहीं तो, कुछ ऊँची श्रेणी के कवियों को छोड़ कर, अन्य सभी कवियों की भाषा में पूर्वी, खड़ीबोली, अरबी, फ़ारसी आदि का अजीब मिश्रण मिलता है। लावनी, ग़ज़ल, रेखता आदि की भाषा यद्यपि अरबी-फ़ारसी शब्दों से मिश्रित खड़ीबोली है, तो भी उसमें प्रादेशिक बोलियों का पुट पाया जाता है। भाषा और व्याकरण के वैज्ञानिक रीति से अध्ययन की अनुपस्थिति में भाषा-विषयक गड़बड़ी होना अनिवार्य था।

इस समय आर्य समाज के अतिरिक्त भारतवर्ष में और भी अनेक धार्मिक वर्ग अथवा सम्प्रदाय थे। उनमें अधिकांश प्राचीन काल से चले आ रहे थे या कुछ दिन पहले ही स्थापित हुए थे और उनकी स्थापना अब्राह्मणों द्वारा हुई थी। अठारहवीं शताब्दी में जगजीवनदास ने सतनामी पन्थ चलाया था। उन्नीसवीं शताब्दी के लगभग मध्य में अन्धे सन्त तुलसीदास ने हाथरस में अपने पन्थ (कुदा) की स्थापना की थी। परन्तु ठीक इसी काल में स्थापित सबसे बड़ा पन्थ राधास्वामी सत्सङ्ग था। उसकी स्थापना १८६१ में तुलसीराम अथवा शिवदयाल साहब (१८१८ १८७८) के द्वारा आगरे में हुई थी। वे बैंकर जाति के क्षत्रिय थे और-वैष्णव मत के

अनुयायी थे। उनके गुरु का नाम तुलसी साहब था। दयाल साहब की मृत्यु हो जाने पर द्वितीय गुरु राय सालिगराम साहब बहादुर (१८२८-१८९८) १८७८ में गद्दी पर बैठे। १८९८ में ब्रह्माशङ्कर मिश्र (१८६१-१९०७) गद्दी पर विराजे। 'राधा-स्वामी' शब्द परब्रह्म का द्योतक है जो सन्त सत्गुरु के रूप में अवतरित होता है। इस मत में गुरु और शब्द की महिमा विशेष रूप से गाई गई है। अनेक बातों में यह मत कट्टर हिन्दू धर्म से अलग है। परन्तु साथ ही बहुतेरी बातें हिन्दू धर्म से अपनाई गई हैं। राधास्वामी मत में जाति का भेदभाव नहीं है। भौतिकता से आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर होना उसका मुख्य ध्येय है। इन सब पन्थों ने गुरु की महिमा का वर्णन किया है, यह बात ध्यान में रखने की है।

इन पन्थों के गुरुओं और अनुयायियों ने हिन्दी में परम्परा के अनुसार काव्य-रचना की है। जगजीवनदास और तुलसीदास की रचनाएँ प्रसिद्ध ही हैं। सत्संग के प्रथम गुरु ने 'सार बचन' नामक ग्रंथ की रचना की थी। दूसरे गुरु ने 'प्रेमपत्र' और 'प्रेमवाणी' नामक ग्रंथों की रचना की। कहते हैं तीसरे गुरु ने भी हिन्दी में रचना की थी। गुरु नानक के सहज-गम्भीरीय सम्प्रदाय के अन्तर्गत स्वामी विष्णु-दास ने 'श्री गहिरगम्भीर-सुखागार ग्रंथ' (१८९७ के लगभग) की रचना की जिसमें सम्प्रदाय के नियमों आदि का विस्तारपूर्वक उल्लेख है। ये सब रचनाएँ ज्ञानाश्रयी भक्ति या सन्त-काव्य के अन्तर्गत आती हैं। परन्तु इनमें साहित्यिक सौन्दर्य का अभाव है। इनकी भाषा मिश्रित है और इन कवियों ने दोहा, कवित्त-सवैया, पद (राग-रागिनियाँ) आदि का व्यवहार किया है।

वैसे तो प्रायः सभी कवियों ने नीति और भक्ति के स्वरूप के विषय में कुछ-न-कुछ कहा है, पर कुछ कवियों ने नीति और भक्ति पर स्वतन्त्र ग्रंथों की रचना भी की। उन्होंने अत्यन्त सरल और सुबोध रीति से भक्ति का स्वरूप समझाया है और वृन्द, रहीम आदि कवियों की रीति पर नीति-वाक्य भी कहे हैं। ऐसी रचनाओं में महाराज रघुराजसिंह कृत 'भक्ति-विलास' (१८७१) और काशी के रसमयसिद्ध कृत 'सिद्धमनोरञ्जन' और 'सिद्धिरहस्य' विशेष आदरणीय हैं। महाराज रघुराजसिंह ने कवित्त, घनाक्षरी, सवैया और कहीं-कहीं दोहों का और रसमयसिद्ध ने दोहा और चौपाई छन्दों का प्रयोग किया है। महाराज रघुराजसिंह का नीति और भक्ति के विषय के लिए छन्द-चयन उपयुक्त नहीं ठहरता। राजा शिवप्रसाद ने भी चाणक्य-नीति का 'नीतिसार' के नाम से हिन्दी दोहों में अनुवाद किया। उसके पहले सोलह दोहे राजा साहब द्वारा सम्पादित 'गुटका', भाग दो, में मिलते हैं। वैसे भी चाणक्य-नीति, भर्तृहरि-नीति, लोकनीति, राजनीति आदि के अनुवाद या उन पर स्वतन्त्र रचनाएँ होती रहती थीं। उनमें साहित्यिक सौष्ठव की आशा करना दुराशा मात्र है।

भक्ति-काव्य की सूक्ष्म समीक्षा के बाद हम इस काल के मुख्य-मुख्य भक्त कवियों का संक्षिप्त परिचय दे देना आवश्यक समझते हैं।

कृष्ण-काव्य : मुक्तक

कृष्ण की सरस लीलाओं को लेकर अनेक कवियों ने मुक्तक काव्य की रचना की। परन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उसमें बहुत कम रचनाएँ ऐसी हैं जिनकी हम साहित्यिक कोटि में गणना कर सकते हैं। प्रायः सभी में एक ही बात का पिष्टपेषण पाया जाता है। तो भी महाराज रघुराजसिंह कृत 'रघुराजविलास' (१८६० में लखनऊ से प्रकाशित) और 'भ्रमरगीत' आदरणीय रचनाएँ ठहरती हैं। उन्होंने राम और कृष्ण में कोई भेद न रख कर 'रघुराजविलास' की रचना की है। उसमें उन्होंने पदों में कृष्ण की लीलाओं का वर्णन किया है और वर्ण्य विषयों में झूलना, हिंडोला, बाल्यावस्था, होली, नखशिख आदि विषय रक्खे हैं। राम भी कृष्ण के रूप में हमारे सामने आते हैं। इस रचना में शृङ्गार कविता का प्रभाव स्पष्ट है। उनका 'भ्रमरगीत' भागवत के दशम स्कन्ध के अनुवाद 'आनन्दाम्बुनिधि' (१८५३) का एक भाग है।

भक्ति-सम्बन्धी मुक्तक काव्य के रचयिताओं में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का नाम भी आदरपूर्वक लिया जा सकता है। 'सखा प्यारे कृष्ण के गुलाम राधारानी के' कहने वाले इस परम भक्त कवि की भक्ति संकुचित और सीमित नहीं थी। वे अन्य मतों और सम्प्रदायों का भी समान रूप से आदर करते थे। उन्होंने राधा-कृष्ण की भक्ति के अनेक सरस और मनोहर पद और कवित्त-सवैये लिखे हैं जिनका परिचय हमें 'भक्त सर्वस्व' (१८७०), 'प्रेम-मालिका' (१८७१,) 'प्रेमाश्रु-वर्षण' (१८७३), 'प्रेम-प्रलाप' (१८७७), 'रागसंग्रह' (१८८०), 'मधु-मुकुल' (१८८०), 'विनय-प्रेम-पचासा' (१८८१) आदि ग्रन्थों से मिलता है। सन्त और वैष्णव कवियों की शैली पर उनके भक्ति-विषयक बड़े ही रसीले पद मिलते हैं। उनकी रचनाओं में गाम्भीर्य के साथ-साथ हृदय की सच्ची अनुभूति और भावावेश मिलता है। उनमें परम भक्त का परम हृदय प्रतिबिम्बित है। उन्नीसवीं शताब्दी के वे ही एक ऐसे कवि हैं जिनकी रचनाओं में वैष्णव-काव्य का गीति-तत्व स्वाभाविक और सुन्दर रूप में पाया जाता है। भारतेन्दु आर्य समाज के अनेक विचारों से सहमत नहीं थे। लेकिन वेदों को शायद वे किसी भी आर्य समाजी से अधिक श्रद्धा और आदर की दृष्टि से देखते थे। साथ ही उन्होंने पौराणिक मत का भी विरोध नहीं किया। मूर्ति-पूजा, गङ्गा-माहात्म्य, तीर्थ-माहात्म्य आदि पर भी उन्होंने रचनाएँ कीं, जैसे, वैशाख-माहात्म्य' (१८७२ ?), 'कार्तिक-स्नान' (१८७२), 'श्री राम-लीला' (१८७६) आदि। भारतेन्दु ऐसे रसिक के लिए शुष्क और नीरस आर्य समाज में आकर्षण ही क्या था।

कृष्ण-काव्य : प्रबन्ध

प्रबन्धों में महाराज रघुराजसिंह कृत 'रुक्मिणी परिणय' (१८५०) स्तुत्य रचना है। वह महाकाव्य है और उसकी रचना का आधार भागवत पुराण है। उसमें कृष्ण जन्म से लेकर रुक्मिणी-विवाह तक की कथा का वर्णन है। भागवत के अनुकरण पर राधा-कृष्ण का विलास, विरह, षट्ऋतु, नखशिख, होली, जल-विहार आदि का वर्णन भी किया है। अन्त में भागवत पुराण की कथा का संक्षिप्त परिचय भी है। कथा का वर्णन कवित्त, सवैया, झूलना, बरवै, रोला, बसन्ततिलका, गीत घनाक्षरी, गीतिका आदि छन्दों में किया गया है। रौद्र और भयानक के साथ शृंगार, शान्त और वीर रसों का परिपाक हुआ है। नायक धीरोदात्त है। प्रकृति-वर्णन भी अच्छे मिलते हैं।

राम-काव्य : मुक्तक

राम-कथा लेकर कवियों ने मुक्तक-शैली में कम रचनाएँ की हैं। राम का जीवन प्रबन्ध या महाकाव्य के अधिक उपयुक्त है। महाराज रघुराजसिंह कृत 'रघुराजविलास' में राम-सम्बन्धी मुक्तक पद मिलते हैं। परन्तु उसमें राम को कृष्ण का रूप दे दिया गया है। 'रघुराजविलास' के राम मानस के राम से भिन्न हैं। वे कृष्ण की तरह अयोध्या और मिथिला की गलियों में विविध रागरंग मचाते फिरते हैं। कृष्ण की आड़ में रची गई शृंगार रचनाओं का राम-भक्ति पर प्रभाव पड़े बिना न रह सका या कहिए मर्यादापुरुषोत्तम राम के जीवन का संयम भारत के दुर्दिनों में असह्य हो उठा था।

राम-काव्य : प्रबन्ध

राम-प्रबन्ध-काव्यों में महाराज रघुराजसिंह कृत 'रामस्वयंवर' बहुत प्रसिद्ध है। दो वर्ष के परिश्रम के बाद १८७७ में वह सम्पूर्ण हुआ था। उसकी रचना काशी के महाराजा ईश्वरीप्रसाद सिंह की इच्छानुसार रामनगर में होनेवाली रामलीला में गाए जाने के लिए वाल्मीकि रामायण के आधार पर हुई थी। रचना-शैली तुलसी कृत रामायण के समान है। उसके अधिकांश भाग में राम और उनके भाइयों का विवाह-वर्णन है। इसीलिए उसका नाम 'रामस्वयंवर' रक्खा गया है। करुण रस अरुचिकर मालूम होने के कारण कवि ने राम-बनवास, सीताहरण आदि प्रसंगों का अति संक्षेप में वर्णन कर दिया है। रसों में शृंगार और वीर रस प्रधान हैं। वीर रस अच्छा लगने की वजह से ही लंका के प्रसंग विस्तारपूर्वक कहे गए हैं और 'रामशिकार शतक' एक छोटा सा ग्रन्थ भी जोड़ दिया गया है। क्योंकि इस ग्रन्थ की रचना रामलीला में गाए जाने के लिए हुई थी, इसलिए उसमें चौबोला छन्द को प्रधानता दी गई है। उसके अतिरिक्त चौपाई, दोहा, घनाक्षरी, सोरठा आदि छन्दों का प्रयोग हुआ

है। विवाह का वर्णन करते समय कवि षट्ऋतु आदि विषय भूला नहीं है। इस ग्रन्थ से महाराज की वर्णनात्मक शक्ति का अच्छा परिचय मिलता है। राम का बाल-वर्णन, जनक-वाटिका, हनुमान का समुद्र लाँघना, लंकादहन, मृगया, पावस, बसन्त आदि के अति सुन्दर, उपयुक्त और मार्मिक वर्णन हुए हैं।

'रुक्मिणी परिणय' और 'राम-स्वयंवर' दोनों में घोड़ों, भोजन, अस्त्र-शस्त्र कपड़ों आदि वस्तुओं के बड़े विस्तृत वर्णन मिलते हैं। जैसा पहले कहा जा चुका है, सुन्दर साहित्यिक कृतियों में यह प्रवृत्ति अवाञ्छनीय है।

बाबा रघुनाथदास रामसनेही रामानुज सम्प्रदाय के अनुयायी थे। उन्होंने १८५४ में 'विश्रामसागर' नामक विशद और सुन्दर ग्रन्थ की रचना की। यह तीन खंडों में विभाजित है। प्रथम खंड में पौराणिक कथाओं, नवधा भक्ति, शास्त्रीय बातों और वाल्मीकि, गज, यवन, ध्रुव, प्रह्लाद, अम्बरीष, चन्द्रहास आदि भक्तों का वर्णन है। द्वितीय खण्ड में कृष्ण-चरित्र, कृष्ण-जन्म से रुक्मिणी-विवाह और प्रद्युम्न के जन्म तक की कथा और तृतीय खंड में तुलसी के आधार पर रामचरित्र वर्णित है। इस काल में अवधी भाषा में लिखा गया एक यही अच्छा ग्रन्थ मिलता है।

भक्ति के इस पुरातन स्वरूप के साथ-साथ भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, श्रीधर पाठक, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', बालमुकुन्द गुप्त और राधाकृष्णदास की रचनाओं में यत्रतत्र विनय और भक्ति का एक नवीन रूप भी मिलता है। अब तक भक्तों में व्यक्तिगत कल्याण-भावना प्रमुख रहती थी। परन्तु उपर्युक्त कवि दुर्गा, राम, कृष्ण, भवानी आदि की स्तुति में देश के कल्याण और हित की भीख माँगते हैं। यह नवोदित राष्ट्रीय भावना की देन थी!

उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त शाह कुन्दनलाल 'ललितकिशोरी' ('अभिलाषा-माधुरी'), संकेतअली 'शंकर' ('संकेतलता'), हरिविलास ('हरिविलास ग्रंथ'), द्विज बलदेवप्रसाद और गंगाधर अवस्थी 'द्विजगङ्ग' ('प्रेमतरंग'), धाभाई गोविन्ददास ('गुर्जरगीतमंगल' और 'गुणाकरवृन्द'), पण्डित नन्दलाल ('उद्यानमालिनी'), गोकुल-नाथ कवि ('जुगलकिसोरविलास'), नरायन गिरि ('जयरामरत्नावली'), 'हरिऔध', महाराज प्रतापनारायण सिंह ('मानदूत'), अयोध्या के महन्त रघुनाथदास ('सरयूलहरी'), बेनीमाधव उपनाम बीकू मिश्र ('दरदर क्षेत्रमाहात्म्य'), राम कवि ('दरदर क्षेत्रमाहात्म्य'), नकछेदी तिवारी ('सरयूलहरी'), काशी के लोकनाथ द्विवेदी ('श्रीनाथ-संग्रह' और 'नाथसंग्रह'), महन्त जानकीप्रसाद ('विरह दिवाकर'), रसरङ्गमणि ('सरयूलहरी' और 'अवधपञ्चक'), दिलीपपुर के बाबू नर्मदेश्वरप्रसाद सिंह ('शिवा-शिवशतक'), महाराज उमापति त्रिपाठी ('दोहावली रत्नावली'), सहजराम ('प्रह्लाद चरित्र'); देवदास ('अद्भुत वृन्दावन'), विश्वरूप स्वामी ('हरिहर निर्गुण सगुण

पदावली'), ओरीलाल कायस्थ ('शैवीनिधि,), और जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ('कलकाशी') के नाम उल्लेखनीय हैं। अधिकांश में उन्होंने मुक्तक-काव्य की रचना की है। भाषा, भाव, विषय और रचना-शैली में उन्होंने प्राचीन परिपाटी का ही अनुसरण किया है

अनुवाद-ग्रन्थ

यहाँ पर शृङ्गार और भक्ति विषयक संस्कृत-रचनाओं के अनुवादों का उल्लेख कर देना भी उचित होगा। कवियों ने संस्कृत-ग्रंथों, रामायण, महाभारत आदि का या तो अनुवाद किया या उनका भावाशय लेकर अपनी स्वतन्त्र रचनाएँ कीं। पुराणों का भी भाषा में अनुवाद किया गया ताकि संस्कृत न जानने वालों को पुराणों का अध्ययन करने में सुविधा हो। अनुवादकों में सीताराम 'भूप कवि' : 'मेघदूत' (१८८३), 'कुमारसम्भव' (१८८४) और 'रघुवंश' (१८८६); राजा लक्ष्मणसिंह : 'मेघदूत' (१८८२-८४); तोताराम वर्मा : 'राम रामायण' (वाल्मीकि कृत रामायण, बालकांड १८८८, अयोध्याकांड १८९८); महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'विहार वाटिका' (१८९०, मूल लेखक जयदेव), 'ऋतुतरङ्गिणी' (१८९१, मूल लेखक कालिदास) और 'गंगा लहरी' (१८९१, मूल लेखक पंडितराज जगन्नाथ), और ठाकुर जगमोहन सिंह : 'ऋतु-संहार' (१८८६ में द्वितीयवार, मूल लेखक कालिदास), ने अच्छे अनुवाद किए हैं। सभी ने ब्रजभाषा और परम्परागत तथा संस्कृत छन्दों का प्रयोग किया है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'सतसई सिंगार' (१८७८) और अम्बिकादत्त व्यास ने 'बिहारी विहार' (१८९८) के नाम से बिहारी के दोहों पर कुंडलियाँ बाँधी हैं। सुधाकर द्विवेदी ने 'तुलसी-सुधाकर' (१८९९) में और अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने 'कबीर कुण्डल' और 'काव्योपवन' में क्रमशः कबीर और तुलसी के दोहों पर कुण्डलियाँ लिखी हैं। 'हरिऔध' ने कुसुमदेव की संस्कृत रचना 'दृष्टान्त कलिका' का भी हिन्दी में अनुवाद किया है। इससे हिन्दी-कवियों के चौमुखी साहित्यिक कार्य का भली भाँति परिचय मिलता है।

वीरगाथा-काव्य

अँगरेज़ी राज्य के स्थापित हो जाने से देश में एक प्रकार से शान्ति हो गई थी। राजनीतिक व्यवस्था और सामाजिक सङ्गठन में परिवर्तन हो जाने के फलस्वरूप वीर-काव्य की रचना की कोई आवश्यकता न रह गई थी। आल्हा-शैली तो अवश्य प्रचलित थी, परन्तु आल्हा की वीरगाथा का नितान्त अभाव था। तो भी छोटे-छोटे दरबारों में अब भी कवि रहा करते थे। बूँदी के महाराज रामसिंह के यहाँ गुलाब सिंह कविराज 'गुलाब' (१८३०-१९०१) का निवास था। महाराज मानसिंह 'द्विजदेव' के दरबार में पंडित प्रवीण (१८५० र० का०) एक प्रसिद्ध कवि रहा करते थे। उन्होंने तथा द्विज बलदेव और 'द्विजगङ्ग' आदि कुछ अन्य कवियों ने अपने-अपने

आश्रयदाताओं की तारीफ़ के पुल बाँध दिए हैं। इन आश्रयदाताओं का कोई ऐतिहासिक महत्व नहीं है। मुक्तक-काव्यान्तर्गत इन रचनाओं में कोई साहित्यिक सौन्दर्य भी नहीं है। उन्हें हम साहित्य की स्थायी सम्पत्ति नहीं कह सकते। वैसे भी उन्हें वीर-काव्य कहना अनुचित है। वीर-काव्य की परम्परा भक्तिकाल के बाद शिथिल हो चली थी। इस काल में आकर वह लुप्तप्राय हो गई।

अस्तु, प्राचीन परम्परा को बनाए रखने और नवीन प्रभावों से बाहर रहने के कारण कविता की पुरानी धारा की सृष्टि होती रही। जैसा पहले बताया जा चुका है, यह नियम सभी कवियों पर समान रूप से लागू नहीं होता। समय की तीव्र गति से मानसिक प्रगति सदैव पिछड़ी हुई रहती है। यह भी इस साहित्य-रचना का एक कारण है। समाज के मध्यम वर्ग ने उसे बनाए रखने की चेष्टा की। प्राचीन गौरवशील साहित्य की परम्परा में होने के कारण उसका महत्व अवश्य है, परन्तु वह मृतप्राय हो चुका था। उसका अन्त हिन्दी साहित्य की एक महान् ऐतिहासिक घटना है।

●

अनुक्रमणिका

१—ग्रंथकार

———

२—ग्रन्थ

UNIVERSITY LIBRARY
1975

हिन्दी परिषद् प्रकाशन के अन्य ग्रन्थ

१. तुलसीदास : लेखक डॉ० माताप्रसाद गुप्त, चतुर्थ संस्करण मूल्य १६ रुपये

२. सूरदास : लेखक डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा, तृतीय संस्करण मूल्य १२ रु०

३. कवित्त-रत्नाकर सं० पं० उमाशंकर शुक्ल, छठा संस्करण मूल्य १० रु०

४. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास (१९००-१९२५) :
लेखक डॉ० श्रीकृष्ण लाल, तृतीय संस्करण मूल्य १२ रु०

५. रामकथा : लेखक रेवरेंड फ़ादर कामिल बुल्के, तृतीय संस्क० (प्रेस में)

६. बीसलदेव रास : सं० डॉ० माताप्रसाद गुप्त तथा श्री अगरचंद
नाहटा मूल्य ७-५०

७. हिन्दी साहित्य (१९२६ से १९४७ ई०) : लेखक डॉ० भोलानाथ, मूल्य १८ रु०

८. गुजराती और ब्रजभाषा कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन :
लेखक डॉ० जगदीश गुप्त मूल्य १२ रु०

९. कबीर-ग्रंथावली : संपादक डॉ० पारसनाथ तिवारी, द्वितीय संस्क० (प्रस में)

१०. रामानन्द संप्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव :
लेखक डॉ० बदरीनारायण श्रीवास्तव मूल्य १२ रु०

११. आधुनिक हिन्दी काव्यशिल्प (१९००-१९५० ई०)
लेखक डॉ० मोहन अवस्थी मूल्य १२ रु०

१२. प्राकृत अपभ्रंश साहित्य और उसका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव :
लेखक डॉ० रामसिंह तोमर, मूल्य १२ रु०

१३. हिन्दी काव्य में प्रतीकवाद का विकास : लेखक डॉ० वीरेन्द्र सिंह मूल्य १६ रु०

१४. हिन्दी कोश साहित्य : लेखक डॉ० अचलानन्द जखमोला मूल्य १८ रु०

१५. कबीर-संग्रह : सं० डॉ० पारसनाथ तिवारी मूल्य १-२५

१६. बिहारी-संग्रह : सं० डॉ० जगदीश गुप्त मूल्य ०-७५

१७. जायसी-संग्रह : सं० डॉ० पारसनाथ तिवारी (प्रेस में)

व्यावसायिक नियमों के लिए मंत्री एवं कोषाध्यक्ष से पत्रव्यवहार कीजिए।